सुशीला उपन्यास

सम्पादक

स्व० श्री पं० गोपालदासजी बरैया

प्रकाशक

आचार्य श्री शिव सागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

श्री महावीरजी (राजस्थान)

प्रतियाँ १०००] [मूल्य ९ रुपये मात्र

दो शब्द

स्व. पं. गोपालदासजी बरैया लिखित सुशीला उपन्यास की लोकप्रियता इसी बात से प्रत्यक्ष है कि अब तक इस उपन्यास की हजारों प्रतियाँ अनेक प्रकाशकों के माध्यम से प्रकाशित हो चुकी हैं तथापि इसकी मांग बनी हुई है। कथा के माध्यम से जैन धर्म और जैन दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को पण्डित जी ने रोचक शैली और सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। उपन्यास होने के कारण "सुशीला" को पाठकों की कभी कमी नहीं रहेगी, आबालवृद्ध स्त्री पुरुष, पुरानी पीढ़ी, नयी पीढ़ी सबको यह रुचिकर होगा और एक बार किसी के हाथ में आने पर बिना पूरा पढ़े दूसरे को नहीं दिया जा सकेगा, मेरा ऐसा विश्वास है।

कागज और छपाई की बढ़ती दरों के कारण आज पुस्तक-प्रकाशन भी बहुत महँगा कार्य हो गया है। उपन्यास के प्रस्तुत पुनर्मुद्रण की भी यही स्थिति है परन्तु क्योंकि इस बार इसका प्रकाशन आचार्य श्री शिवसागर दि. जैन ग्रन्थमाला, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) से हुआ है अतः यह अपने प्रिय पाठकों को लागत मूल्य पर ही दिया जा रहा है। आशा है उपन्यास का यह संस्करण भी अपने पाठकों का पूर्ववत् स्नेह प्राप्त करेगा।

आकर्षक और शुद्ध मुद्रण के लिए मैं महेन्द्र प्रिन्टर्स के संचालक महोदय व कर्मचारीवृन्द को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इत्यलम्—

—ब्र० लाडमल जैन

ॠ

आमुख

रुचि तै प्रकटै ज्ञान सब, रुचि बिन ज्ञान न होय।
सीधो घट बरसत भरै, उल्टो भरे न कोय॥

बारह भावनाओं में एक है—बोधिदुर्लभ भावना। बोधि-ज्ञान का पाना अत्यन्त दुर्लभ है; यह केवल मनुष्य पर्याय में ही सम्भव है—वह भी दुर्लभ है—'नर काया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्रानी', फिर उत्तम देश, सुसंगति, श्रावक कुल पाना और भी दुर्लभ है, फिर सम्यक्दर्शन और संयमाचरण दुर्लभ है ''' '''पर असम्भव नहीं, यदि रुचि हो तो। उपर्युक्त दोहा कहता है कि वर्षा होती रहे और घड़ा उलटा रखा रहे तो कभी नहीं भर सकता परन्तु यदि सीधा रखा हो तो अवश्य भर सकता है, इसी प्रकार यदि हमारी रुचि जाग जाए और सक्रिय हो जाए तो हमें ज्ञान भी सुलभ हो सकता है।

साहित्य की अनेक विधाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय विधा कथा (कहानी–उपन्यास) है। मानव मन का स्वाभाविक रुझान कथा तत्त्व की ओर है, आबालवृद्ध सभी पाठको को किस्सा, कहानी, कथा प्रिय लगती है क्योंकि उसमें काव्य की अपेक्षा यथार्थ की भूमि अधिक ठोस होती है।

जिनवाणी में भी चार अनुयोगों की व्यवस्था है—'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः'। जिस अनुयोग में मोक्षगामी महापुरुषों की जीवन-घटनाएँ संगृहीत हैं उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। इसका अध्ययन करने से अपने भीतर दृढ़ता, साहस और संकल्प शक्ति प्रकट होती है इसीलिए आचार्यों ने इसे 'प्रथम अनुयोग' कहा है। मेरी ऐसी मान्यता है कि मोक्षगामी महापुरुषो का जीवन चरित्र हमें रोचक अवश्य लगता है और उससे प्रेरणा भी मिलती है परन्तु फिर भी कहीं-न-कहीं हमारे मन में उनके प्रति 'समझ' से अधिक श्रद्धा का भाव पैदा होता है, हम उन्हें अपने से विशिष्ट–अतिविशिष्ट ही स्वीकार कर पाते हैं, अपने बीच के नहीं। परन्तु यदि हम वैसे गुणावगुण से परिपूर्ण

चरित्रों का कोई अंकन करे तो उन्हें 'अपने ही बीच का' ज्ञात कर हमारी मानव मन की 'समझ' समृद्ध होती है और तब गुणों की ओर हमारा आकर्षण होता है और दोषों के प्रति विकर्षण। मेरा अनुमान है कि शायद इसी कारण से स्वर्गीय पण्डित गोपालदासजी सदृश सिद्धान्त वेत्ता और जैन दर्शन मर्मज्ञ, उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होने 'सुशीला' उपन्यास लिखा जिससे वे अपनी बात सब तक पहुंचा सकें और सब उसे आत्मीय भाव से स्वीकार कर सकें—यह नहीं कहें कि ये चरित्र किसी और मिट्टी के बने हैं।

निश्चय ही, 'सुशीला' एक रोचक उपन्यास है और इसके अध्येता की रुचि कुशील से हट कर 'शील' में आरुढ़ होती है तथा वह जैन धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में अधिक जिज्ञासु हो उठता है। हाँ, कहीं-कहीं जैन सिद्धान्तों का सूक्ष्म विश्लेषण कथा पर हावी हो जाता है, इसी कारण प्रसिद्ध समीक्षक बाबू गुलाबराय ने अपने 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' में इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"पण्डित गोपालदास बरैया के 'सुशीला' उपन्यास में कथानक बड़ा रोचक है, परन्तु धर्म के उपदेश की अति हो गई है।" वस्तुतः पण्डितजी का साध्य भी तो 'तत्त्वज्ञान' ही है, कथा तो साधनमात्र है। और पण्डितजी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हुए हैं, उन्होने तत्त्वज्ञान रूप कटु औषध को कथा की चासनी में मिलाकर पाठक को पिलाया है। सप्ततत्त्व, नौ पदार्थ, अष्ट कर्म, जीव समास, गुणस्थान, दशलक्षण धर्म तथा गति सम्बन्धी जैनों की मूल मान्यताओं का सम्यक् निदर्शन कराने में पूज्य पण्डितजी पूर्ण सफल हुए हैं।

लेखक या वक्ता अपने मन के भाव पाठकों तक जिस माध्यम से पहुँचाता है वह है भाषा। यदि कही गई बात भी जटिल हो और भाषा भी जटिल हो तब तो ये भाव सम्प्रेषित नहीं हो पाते फलतः लेखक सफल मनोरथ नहीं हो पाता। पूज्य पण्डितजी ने संप्रेषण की इस कठिनाई को ध्यान में रख कर ही सहज बोधगम्य भाषा का प्रयोग किया है। यों उनकी भाषा तत्सम प्रधान है फिर भी उर्दू के शब्दों व देशज शब्दों का यथावश्यक उपयोग पण्डित जी ने किया है, अतः अर्थप्रवाह में कहीं अवरोध उपस्थित नहीं हो पाता। बोलचाल के मुहावरों ने भी भाषा को समृद्ध किया है। और संस्कृत श्लोकों

नीति-उपदेश के उदाहरणों से भी पण्डितजी की बहुज्ञता का परिचय मिलता है। पात्रों के संवाद पाठकों को मुग्ध करने वाले हैं, इससे शैली में नाटकीयता और प्रभावोत्पादकता का गुण सहज में ही प्रकट हुआ है।

शील रूपी शिवद्वार को नमस्कार करते हुए पण्डितजी ने इक्कीस पर्वों में शीलवान पात्रों—जयदेव और सुशीला को महिमामण्डित किया है और दुराचारी पात्रों—उदयसिंह, बसन्तसिंह, रामकुमारी और हीरालाल को दण्डित किया है। सारी कथा इसी अभिप्राय के इर्दगिर्द घूमती है और पाठक के मन में शील के प्रति निष्ठा और कुशील के प्रति घृणा पैदा करने में सफल सिद्ध होती है। प्रस्तुत उपन्यास, लेखक के धर्मानुराग, उनकी साहित्य सेवा और जिनवाणी के प्रचार प्रसार में उनकी गहरी अभिरुचि को प्रकट करता है। आज भौतिकता की चकाचौंध के वशीभूत हुआ मनुष्य जब सारी मर्यादाओं को त्याग कर येन केन प्रकारेण अपनी वासनाओं की पूर्ति पर उतारू हुआ है, केवल इन्द्रियजन्य सुखों को ही महत्त्व देने लगा है तब तो उपन्यास का 'सन्देश' और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। मनुष्य होकर भी जब आज का मानव पशुता की ओर अग्रसर होने को आतुर है तब पण्डितजी उसे अपना वास्तविक स्वरूप बता कर संसार से छूटने का मार्ग बताते हैं। और ऐसा करने वाले को 'भाग्यशाली' मानते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास जैन तत्त्वज्ञान की समीचीन जानकारी कराते हुए शील, संयम, सदाचार को श्रीमण्डित करता है और लेखक अपनी शैली से पाठक को अथ से इति तक बांधे रखता है। यही उपन्यास की सफलता है। पं० गोपालदास जी बरैया ने साहित्य की आधुनिक विधा के माध्यम से अपना कथ्य प्रस्तुत कर जैन साहित्य की एक महती कमी को पूर्ण किया है। अपनी इस औपन्यासिक रचना के लिए पण्डित जी जैन वाङ्मय के इतिहास में सदैव स्मरणीय बने रहेंगे। इति शुभम्

23/12/87

डा. चेतन प्रकाश पाटनी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

श्री वीतरागाय नमः

* सुशीला उपन्यास *

मंगलाचरण।

सकल व्रतनि में अग्रसर, सकल कर्म क्षयकार।
सकल निकल जासों भये, नमों शील शिवद्वार॥

प्रथम पर्व।

अर्द्ध रात्रि का समय है, चारों तरफ सन्नाटा छा रहा है। पूर्ण-मासी का चन्द्रमा पूर्ण रूप से आकाश के मध्यभाग में तिष्ठ अपनी किरणों से समुद्र को क्षोभित कर रहा है। कभी समुद्र की लहरें किसी चट्टान से टकरा कर तूफान की आशंका उत्पन्न कर देती हैं। और कभी जलचर जीव पानी में से अपना भयानक मुख निकाल ऐसा भाव दिखाते हैं, मानों हाथ से निकली हुई शिकार की खोज में व्यग्र हो रहे हैं। देखते-देखते पूर्व की ओर से एक घनघोर काली घटा ने धीरे-धीरे बढ़कर चन्द्रमा को ढक लिया। सर्व जगत अन्धकारमय भासने लगा। मेघराज घोर रूप से गरजने लगे। और इस श्यामवर्ण रूप विश्वव्यापी अन्धकार में कभी-कभी चपला अपने चंचल चमत्कार की विचित्र छटा दिखाने लगी।

ऐसे समय में समुद्र के बीच में एक छोटा-सा जहाज अपनी मन्द गति से गमन कर रहा है, जिसमें एक स्त्री और दो पुरुष तो प्रधान हैं,

बाकी चार पांच सेवक तथा आठ दस मल्लाह हैं जो बारी-बारी से जहाज को खे रहे हैं। थोड़ी देर में पवन ने जोर पकड़ा और समुद्र की लहरों के झकोरों से जहाज डगमगाने लगा। और धीरे-धीरे जहाज में पानी भरने लगा। इतने में एक छोटे से चट्टान से टकरा कर जहाज फट गया। और उसके डूबने में अब कुछ सन्देह नहीं रहा।

मल्लाहों ने बड़ी फुर्ती के साथ एक छोटी-सी डोंगी में उस स्त्री को बिठाया और जल्दी-जल्दी खे कर डोंगी को एक तरफ को चलाना शुरू किया। इतने में जहाज डूब गया और सब मनुष्य पानी में गोते खाने लगे।

इन तीन प्रधान व्यक्तियों में से एक पुरुष का नाम जयदेव, दूसरे का भूपसिंह और स्त्री का नाम सुशीला था। जयदेव सुशीला का पति और भूपसिंह जयदेव का मित्र था। जयदेव की अवस्था अनुमान बीस वर्ष के और भूपसिंह पच्चीस वर्ष के होगी।

सुशीला अभी नवयौवना है। उसकी अवस्था लगभग पन्द्रह व सोलह वर्ष के होगी। नागिन के समान काले केशों की लट मुख के ऊपर छिटक रही है, जिसको देखकर चन्द्रमा भी लज्जित हो जाता है। मृगों के समान चंचल नेत्रों की शोभा ही निराली है।

कुच कलशों की शोभा देखकर चक्रवाकयुगल शरमा जाता है उदर की त्रिवली त्रिवेणी की शोभा को धारण कर रही है। केले के स्तम्भ समान जंघा वाली, गजगामिनी, कोमलांगी, पिकबयनी, उस अबला को एक डोंगी में बैठाकर कितने ही मल्लाह किनारे की तरफ ले चले। मार्ग में सुशीला मल्लाहों से पूछती है कि, जयदेव और भूपसिंह कहां है ? तब मल्लाह कह देते हैं कि, पीछे से दूसरी डोंगी में आ रहे हैं।

मल्लाहों के वचन को सुनकर कुछ देर के वास्ते सुशीला आश्वासन पा कर फिर कर पीछे को देखती है, परन्तु अपने साथियों के आगमन चिह्न न देखकर फिर व्याकुल-चित्त हो जाती है।

इस तरह नाना विकल्प जालों में उलझती हुई, कभी नेत्रों से

अश्रु धारा बहाती है, और कभी अपने साथियों के शीघ्र आ पहुँचने की आशा से धैर्य्य धारण कर लेती है। डोंगी बड़े वेग से चली जा रही है। सबेरा होते-होते समुद्र के एक तट के निकट जाकर ठहर गई। तब मल्लाहों ने सुशीला को डोंगी से उतार कर एक म्याने में बिठाया और दरवाजा बन्द करके उसे रवाना किया। यह सब व्यवस्था को देखकर सुशीला भयचकित हो पूछने लगी यह म्याना कहाँ जाता है? और हमारे साथी कहाँ हैं? परन्तु सुशीला को इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं मिला। धीरे-धीरे सुशीला का कोमल चित्त भय से कम्पायमान होने लगा। अश्रु धारा की झड़ी से सब वस्त्र भीज गये। निदान एक दीर्घ उच्छ्वास लेकर हाय जयदेव! कहती हुई सुशीला मूर्छित हो गई। थोड़ी देर में म्याने के झरोखों में आती हुई ठण्डी हवा के लगने से होश में आई, फिर भी जयदेव और भूपसिंह की याद करके रोने लगी। दोपहर के समय म्याना एक बाग में पहुँचा। म्याने से उतार कर सुशीला बाग के बीच में बने दुमंजिले बंगले में पहुंचाई गई।

बंगले के उस दूसरे मंजिल में बीचों-बीच झाड़, फानूस, आईने, पलंग वगैरह ऐशोआराम के सब सामानों से सजा हुआ एक खूबसूरत दीवानखाना कमरा बना है। दीवानखाने के चारों तरफ एक चाली है और चाली की दूसरी तरफ चारों ओर कई कोठरियां बनी हैं, जिनमें हर तरह के जरूरत के सामान मौजूद हैं। वहाँ पहुंचते ही एक दासी स्नान के वास्ते गरम जल तथा दूसरी एक सुवर्ण के थाल में नाना प्रकार के भोजन और व्यंजन ले आई। परन्तु सुशीला ने जयदेव और भूपसिंह की याद में भोजन की ओर झांका तक नहीं। कभी सोचती है कि, यह देश किसका है और ये मनुष्य कौन हैं? कभी विचारती है कि कहीं यह देश मेरे श्वशुर का न हो क्योंकि, बन्दरपर म्याने वगैरह की सब तय्यारी ठीक थी, उस ही प्रकार यहाँ भी रहने को मकान तथा भोजनादिक समस्त सामग्री यथोचित है। परन्तु वे दोनों अब तक क्यों नहीं आये? फिर हृदय में विचार उठता

है कि, यदि यह देश हमारा होता, तो समस्त सेवक वगैरह हमारी आज्ञा का पालन करते। परन्तु वैसा कुछ दीखता नहीं है। बड़े ही सोच विचार में पड़ी। भय से सर्व अङ्ग कांपने लगा। सुशीला के संग सदा कितनी ही सहेलियाँ रहा करती थीं, परन्तु आज इस जंगले में बेचारी अकेली बैठी हुई प्रिय जयदेव तथा भूपसिंह की याद कर करके आँसू बहा रही है।

इतने ही में अकस्मात् एक मनुष्य आया और कहने लगा—हे प्रिये ! तुम्हारे विरह में मैं इतने दिनों से अत्यंत व्याकुल हो रहा हूँ। आज तुम्हारे दर्शन से मैं अपने को धन्य समझता हूँ। कृपा करके अब शीघ्र ही मेरे हृदय से लगकर विरह ज्वाला को शान्त करो। बड़े परिश्रम और सौभाग्य से यह आज का दिन प्राप्त हुआ है; तुम्हारे विरह में मैंने जो कुछ दुःख सहे हैं, उनका वर्णन नहीं कर सकता। अब कृपा करके शीघ्र ही प्रणयदान देकर मुझे कृतार्थ करो। सुशीला इस मनुष्य के चेहरे को देखकर और उसकी बातों को सुनकर न मालूम क्या स्मरण करके भयभीत स्वर से एक चीख मारकर मूर्छित हो गई।

———

द्वितीय पर्व

प्रातःकाल का समय है। पूर्व दिशा की ओर कुछ-कुछ लालिमा दिखाई पड़ रही है। थोड़ी देर में सूर्यदेव का उदय होने वाला है। जिस प्रकार करणलब्धि के प्रभाव से मिथ्यात्व दूर भाग जाता है और सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव हो जाता है, उस ही प्रकार सूर्योदय के सन्ध्या की लालिमा से अन्धकार विदा हो गया। समुद्र के तट के वृक्षों पर घोंसलों में से चिड़ियां निकल-निकल कर इधर-उधर फुदक-फुदक कर चुहाचुहा रही हैं। दाने की खोज में जाते समय अपने घोंसलों के द्वार पर अपने बच्चों की चोंच से चोंच मिलाकर निसर्गज मातृप्रेम का नमूना दिखा रही है।

ऐसे समय में एक तख्ते पर बैठा हुआ जयदेव कभी डूबता, कभी उछलता सूर्य के निकलते-निकलते समुद्र के किनारे जा लगा। समुद्र-तट की भूमि की शोभा देखते ही जयदेव का चित्त हरा भरा-सा हो गया। वह बड़ी शीघ्रता के साथ तख्ते को छोड़कर पास ही एक वृक्ष के नीचे एक सुन्दर शिला पर जा लेटा।

तीन दिन की भूख प्यास के मारे सब शरीर और इन्द्रियां शून्य होगई थीं, अतः वह समुद्र में बहने के दुःखों को याद करके मूर्छित हो गया। समुद्र तट की ठण्डी-ठण्डी हवा लगने से कुछ देर में होश हुआ, तो सुशीला और भूपसिंह की याद करके जोर-जोर से रोने लगा। थोड़ी देर में स्वयं धीरज बांधकर चुप हुआ। चुप होते ही निद्रा ने धर दबाया, और दो तीन घण्टे खूब सोया।

आँखें खुलने पर थका हुआ शरीर हलका मालूम होने लगा। परंतु साथ ही क्षुधा की वेदना से चित्त व्याकुल होने लगा। धीरे-धीरे शौच स्नान से निवृत्त होकर ंक्षेप में सन्ध्यावन्दन सामायिकादि क्रिया-काण्ड पूर्वक मनमें पंचपरमेष्ठी का ध्यान करके वृक्ष के नीचे से उठकर आहार की चिन्ता में एक ओर को गमन करने लगा। परन्तु शरीर शिथिल होने के कारण थोड़ी दूर चलता है। फिर किसी वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम लेता है। और इस प्रकार बड़ी कठिनता से दुपहर तक धीरे-धीरे चलकर समुद्र तट से दो कोस की दूरी पर एक छोटे से ग्राम में पहुँचा। तलाश करते-करते जिन चैत्यालय में पहुँच भगवत् के दर्शन करके बैठा ही था कि इतने में एक वृद्ध पुरुष दर्शनार्थ चैत्यालय में आया और दर्शन करके जयदेव से पूछने लगा कि आपका निवास कहाँ है ? और यहाँ पर किस प्रयोजन से आपका आना हुआ ?

जयदेव ने उत्तर दिया कि मैं एक मुसाफिर हूँ और मार्ग भूलकर यहाँ आ निकला हूँ। यह सुनकर वृद्ध पुरुष ने जयदेव से प्रीतिपूर्वक अपने स्थान पर चलने को कहा। जयदेव ने स्वीकार भी किया। वृद्ध पुरुष जयदेव को अपने घर पर लाया और भोजन कराकर एक झोंपड़ो में चारपाई बिछा दी जिस पर कई दिन का थका हुआ जयदेव

आनन्द के साथ फिर सो गया। चार घण्टे में जयदेव की नींद खुली। चारपाई से उठकर हाथ मुंह धोकर जल पी, वृद्ध पुरुष से विदा मांग पश्चिम दिशा को रवाना हुआ। धीरे-धीरे एक मंजिल पूरी करके कंचनपुर पहुँचा। शहर के बाहर ही धर्मशाला में उतर कर शौच स्नान सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होकर श्रीमन्दिरजी में इष्टदेव के दर्शन करके बाजार में सैर करने को चला। पैसा गांठ में नहीं है, जठराग्नि उद्विग्न कर रही है, सुशीला और भूपसिंह की याद के मारे चित्त जुदा व्याकुल हो रहा है। अतः कभी इधर जाता है कभी उधर जाता है और कभी खड़ा होकर आंसू बहाने लगता है।

इसकी ऐसी अवस्था देखकर एक जौहरी ने अपनी दूकान पर बुलाकर प्रेम पूर्वक पूछा, तुम ऐसे उदास होकर क्यों इधर-उधर घूम रहे हो ? जयदेव ने उत्तर दिया कि, रोजगार की तलाश में। फिर जौहरी ने पूछा तनख्वाह लोगे ? जयदेव ने उत्तर दिया कि, रोटी कपड़े।

यह बात जौहरी ने स्वीकार की और जयदेव भी हर्षपूर्वक उसके पास रहने लगा। जयदेव रत्न परीक्षा में बहुत निपुण था। उसने धीरे-धीरे जौहरी की दूकान के सब काम का भार अपने ऊपर उठा लिया। जयदेव की इस योग्यता को देखकर रतनचन्द जौहरी ऐसा प्रसन्न हुआ कि जयदेव को अपने निजपुत्र हीरालाल से भी अधिक प्यार करने लगा परंतु हीरालाल को यह बात सह्य न हुई और उसके चित्त में जयदेव की ईर्ष्या का अंकुर जड़ पकड़ गया। वह इस बात की चिन्ता में लगा कि, जयदेव को किस प्रकार घर से बाहर करूं।

रतनचन्द कंचनपुर के जौहरियों में बड़ा श्रीमंत समझा जाता था। उसकी पहली स्त्री रामप्यारी अपने एक हीरालाल को छोड़कर दस वर्ष पहिले ही परलोक को गमन कर चुकी थी। इस समय रतन-चन्द की उम्र ४० वर्ष के और हीरालाल की उमर करीब पंद्रह वर्ष की होगी। पांच वर्ष पहले रतनचन्द का दूसरा विवाह हो चुका है।
उसकी दूसरी स्त्री रासकुमारी की अवस्था इस समय अनुमान

अठारह वर्ष की हैं। जयदेव रतनचन्द के चौके में ही भोजन करता था। इसके स्वरूप और लावण्य को देखकर रामकुंवरि मोहित हो गई। निरन्तर जयदेव का ही ध्यान करने लगी। परन्तु क्या करे? क्योंकि, जयदेव केवल भोजन करने मात्र को कभी रतनचन्द के साथ और कभी हीरालाल के साथ आया करता था, अतः उसे कभी एकांत का मौका ही नहीं मिलता था। अकस्मात् एक दिन रतनचन्द और हीरालाल शीघ्र ही ब्यालू कर आये, परन्तु जयदेव को कार्यवश विलम्ब हो गया और वह ब्यालू करने को सबके पीछे गया। ब्यालू करने के बाद एकान्त पाकर रामकुंवरि ने जयदेव का हाथ पकड़ लिया और उसके साथ कामचेष्टा करने लगी।

यह अवस्था देखकर जयदेव चकित हो गया और धीमे स्वर से विनयपूर्वक कहने लगा कि, आप मेरी धर्म की माता हैं। यह अनुचित व्यवहार मुझ से कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार निराशा के वचन सुनकर रामकुंवरि लज्जित होने के बदले धृष्टतापूर्वक कहने लगी कि, यदि तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं करोगे, तो मैं तुम पर उलटा दोषारोपण करके तुम्हारा फजीता करूंगी और तुमको घर से निकलवा दूंगी। यह सुनकर जयदेव ने गम्भीर स्वर से कहा कि, आप उचित समझें सो करें परन्तु मैं यह अधर्म कार्य कदापि नहीं करूंगा। ऐसा कह बल-पूर्वक अपना हाथ छुड़ा घर से बाहर निकल और दुकान पर जा अपना मामूली काम करने लगा।

इसकी इस चालाकी को देखकर रामकुंवरि हाथ मलती रह गई और अपनी आशा की पूर्णता दुःसाध्य समझ इसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने का विचार करने लगी। घर के सब कामकाज यों ही छोड़कर पलङ्ग पर पड़ गई। रात्रि को जब रतनचन्द आया, तो फूट-फूट कर रोने लगी। इस अवस्था को देखकर रतनचन्द घबड़ाया और रामकुंवरि से रोने का कारण पूछने लगा।

ज्यों-ज्यों वह पूछता था, त्यों-त्यों रामकुंवरि हिचकियां लेकर रतनचन्द की घबड़ाहट को बढ़ाती जाती थी। आखिरकार बहुत कुछ

समझाने बुझाने पर उसने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि, यह जयदेव जिसको आपने अपने घर में रख छोड़ा है और जिसके ऊपर आपका बहुत बड़ा विश्वास है, बड़ा ही धूर्त और बदमाश है। प्रतिदिन जब तक आपके साथ भोजन करने को आता था, तब तिरछी निगाहों से मेरी तरफ देखा करता था। परन्तु अब तक आपके भय से वह कुछ साहस नहीं कर सका।

दैवयोग से आज शाम को कुछ कार्यवश व्यालू करने के लिये वह सबसे पीछे आया और व्यालू करने के बाद एकांत पाकर मुझ अबला पर बलात्कार पूर्वक शील भ्रष्ट करने की चेष्टा करने लगा। मेरी चोली फाड़ डाली और पशु कर्म करने को उपस्थित हुआ। जब मैं चिल्लाई और पड़ौसियों को बुलाने की उसको धमकी दी, तब वह अधर्मी शीघ्र ही भाग गया। अब मैं अत्यन्त लज्जित हो रही हूँ। मेरी लाज आपके हाथ है। या तो इस घर में मैं ही रहूँगी, या वह ही रहेगा। यदि आप इसका ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं करेंगे, तो मैं कुए में गिर पड़ूँगी, अथवा विष खाकर मर जाऊंगी। इतना कहकर रामकुंवरि बिलख-बिलख कर रोने लगी।

इस अवस्था को देखकर रतनचंद बड़े चक्कर में पड़ा। वह कभी अपनी प्रिया की दुःख भरी बातों को सुनकर भ्रम में पड़ जाता है और कभी जयदेव की योग्यता और सौजन्य का स्मरण करके स्तंभित हो जाता है। रतनचन्द विचार-शक्ति और नीति-निपुण था। अतः उसकी विचार-शक्ति ने असली बात को खोज निकाला। तब रामकुंवरि के षड्यन्त्र को समझ गया। परन्तु मौका देखके उस समय जयदेव को धमकाने का वचन देकर गुस्सा दबा के रह गया।

परन्तु रामकुंवरि को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने रतनचन्द को इस विषय में उदासीन देखकर हीरालाल को जयदेव के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया। हीरालाल पहले ही से जयदेव के विरुद्ध था अब रामकुंवरि की सहायता पाकर उसका साहस द्विगुणित हो गया और इस प्रकार वह जयदेव का जानी दुश्मन बन गया। मौका

पाकर एक दिन आधी रात के समय खड्ग लेकर जयदेव के पलंग के पास जा खड्ग म्यान से बाहर करके जयदेव पर चलाने को ही था कि इतने ही में पीछे से आकर किसी ने हीरालाल का हाथ पकड़ लिया और हीरालाल भय चकित होकर हाथ पकड़ने वाले की सूरत देखने लगा।

तृतीय पर्व

मध्याह्न का समय है। सूर्य अपने पूर्ण प्रताप से पृथिवी को संतप्त कर रहा है। पशु पक्षी छाया की खोज में इधर-उधर व्याकुल हो रहे हैं। भोले जीव सांसारिक दुःखदावाग्नि से भयभीत होकर संसार में इसी प्रकार सुख की छाया खोजने में आकुलित रहते हैं। तृषातुर पांथजन आसपास जलाशयों के न मिलने से भटकते फिरते हैं। उन बेचारों को उस प्रचंड ग्रीष्म में किसी बतलाने वाले के भी दर्शन नहीं होते। सम्यक्त्व सलिल के न मिलने से मिथ्यात्व-आतप-दग्ध-दूरभव्य भी संसार में इसी प्रकार चक्कर खाते रहते हैं।

उस समय उन्हें किसी सम्यग्दृष्टि का समागम भी नहीं मिलता। प्यासे मृगों के समूह मृगतृष्णा में जल का संकल्प करके दौड़ जा रहे हैं, पर बेचारे उस प्रयत्न में कृतकार्य नहीं होते। दुःखोत्तप्त संसारी जीव विषयों में इसी प्रकार सुख का संकल्प करते हैं और उनके आसेवन से परिपाक में निराश होते हैं। तप्त पवन के झकोरों से छोटे-छोटे वृक्षों की सुकुमार कोंपलें मुरझाकर खिन्न हो रही हैं। व्याघ्रादिक हिंस्रजीव कहीं झाड़ियों में पड़े हुए जोर से हांफ रहे हैं। उनके भयावने शब्द मार्गक्रमण करने वाले पथिकजनों को भयभीत कर देते हैं। चारों तरफ सन्नाटा खिंच रहा है।

जङ्गल बड़ा डरावना है। दूर-दूर तक मनुष्यों की आबादी नजर नहीं आती। जिधर देखते हैं, उधर विस्तृत पर्वतमालायें दूर तक पैर फैलायें पड़ीं हैं।

एक छोटी-सी पगडंडी पर ऐसे समय में एक भाग्य का मारा हुआ पथिक चल रहा है। उसके चंचल नेत्र चारों तरफ का दृश्य देख रहे हैं; परन्तु न जाने क्यों आंसुओं की धारा बहा रहे हैं। वह पथिक अश्रुधारा को दस पांच कदम चलके दुपट्टे से पोंछ लेता है, परन्तु धारा बन्द नहीं होती।

पाठकों! यह और कोई नहीं आफत का मारा हुआ बेचारा भूपसिंह है। कई दिन का भूखा प्यासा जयदेव और सुशीला की खोज में इस जङ्गल में आ फंसा है।

जङ्गल की विस्तीर्णता देखकर भूपसिंह को उससे शीघ्र पार होने की चिन्ता हुई। अतः वह द्रुतगति से चलने लगा। और संध्या होने के कुछ पहिले एक नगर में जा पहुंचा। वहां भोजनादि की चिन्ता से निवृत्त होकर नगर के बाहर एक सुन्दर उद्यान में कुछ लोगों को आपस में वार्ता करते देखकर उनके पास जा खड़ा हुआ और बात-चीत सुनने लगा। उनके द्वारा जो कुछ सुना उसे भूपसिंह ने आँखों से भी देख लिया। अर्थात् देखा कि एक चतुरङ्ग सेना बड़े वेग से इस नगर की ओर चली आ रही है। रथ, सैनिक, पदातियों का महासमुद्र उमड़ा आ रहा है। भगवती पृथिवी विपुल धूल उड़ाकर उसका स्वागत कर रही है।

यह खबर विद्युद्वेग से सुवर्णपुर नगर भर में फैल गई। वहां के महाराजा ने परचक्र से अपनी रक्षा करने के लिये अपने सेनापति को सचेत किया। सेनापति तत्काल ही सेना तैयार करके मुकाबला करने के लिये सुसज्जित होकर नगर के बाहर पड़ाव में आ डटा।

इन दोनों चक्रों में रणचण्डी को नृत्य करती हुई देखकर घोर हिंसा के दृश्य का अनुमान कर अनुकम्पा-कम्पित सूर्यदेव अस्ताचल की ओट में हो गये। उनके अस्त होते ही पश्चिम दिशा में संध्या की लालिमा युद्धस्थलवाहिनी रक्त नदी का नमूना दिखाने लगी। धीरे-धीरे लालिमा विलायमान हो गई और चारों ओर अन्धकार ने अपना राज्य जमा लिया। मिथ्यात्व उपशमसम्यक्त्व के अस्त होने से इसी

तरह अपना अधिकार जमाता है। विषयकषायरूपी चोर और व्यभिचारी क्षमाशीलादि रत्नों की लूट करने में दत्तचित्त होने लगे।

भूपसिंह यह सब चरित्र देख सुनके नगर में लौट आया। एक सराय की कोठरी में नाना चिन्ताओं में रात पूरी की। और सवेरे प्रातःकालीन क्रियाओं से निश्चल होकर समर-समाचार पाने की इच्छा से नगर में घूमने लगा।

आज सवेरे ही सुवर्णपुर के महाराजा का आलीशान दरबार भरा हुआ है। सम्पूर्ण राज्य कर्मचारी यथास्थान बैठे हुए हैं परन्तु किसी मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता-ध्यानस्थ हो रहे है। इतने में एक सांडनी सवार ने आकर इस शांति को भङ्ग किया। सब लोग उसकी तरफ देखने लगे। उसने महाराज को अदब के साथ प्रणाम करके एक चिट्ठी दी और एक ओर जा खड़ा हुआ। महाराज ने चिट्ठी मन्त्री को देकर पढ़ने को कहा। मन्त्री पढ़ के सुनने लगे। उसमें यह लिखा हुआ था :—

श्रीवीतरागाय नमः

स्वस्ति श्री सुवर्णपुर सुभस्थाने विराजमान राजनीति-नैपुण्यादि विविध-गुण सम्पन्न राजेश्री विजयसिंहजी योग्य रामनगर नरेश नाहरसिंह का यथायोग्य बंचना। अपरंच-आपको इस विषय में अनेक बार लिखा गया कि, आप अपनी कन्या मदनमालती का विवाह हमारे कुमार प्रतापसिंह के साथ कर देवे, परन्तु आपने हमारे पत्रों का कुछ भी सत्कार नहीं किया। आप विचारशील और दूरदर्शी हैं। चाहें, तो अब भी चेत सकते हैं। इसलिये एक बार पुनः सूचना दी जाती है कि, आप मदनमालती का सम्बन्ध हमारे पुत्र के साथ करने का शीघ्र ही प्रबन्ध करें। अन्यथा बलात्कार विवाह कराया जायगा और तब आपको व्यर्थ लज्जित होना पड़ेगा इत्यलं विस्तरे—

शुभमिति ज्येष्ठ शुक्ला ६ भवदीय—हितैषी
गुरूवार। नाहरसिंह

पत्र के सुनते ही विजयसिंह के नेत्र लाल हो गये। भुजा फड़कने लगी। भृकुटी वक्र हो गई। क्रोध को संभाल के वहाँ बैठना कठिन हो गया। अतः बुद्धसेन मन्त्री को उत्तर लिखने की आज्ञा देकर वे राजभवन को चले गये। मन्त्री ने महाराज की आज्ञानुसार पत्र लिख के मोहर हस्ताक्षर पूर्वक दूत के हवाले किया। सांडनी सवार पत्र लेकर अपने दरबार में पहुँचा। सब लोग उत्कंठित हो रहे थे कि, देखें क्या उत्तर मिलता है। महाराज ने चिट्ठी लेकर मन्त्री को पढ़ने के लिये दी। उसमें लिखा था,—

नमः श्रीजिनाय।

स्वस्ति श्री रामनगर नरेश नाहरसिंहजी योग्य सुवर्णपुर से विजयसिंह का यथायोग्य बंचना। आपका अत्यन्त अविचारितरम्य पत्र मिला, वृत्त अवगत हुए। हमारी मदनमालती कन्या का विवाह आपके पुत्र के साथ नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध मुझे सर्वथा इष्ट नहीं है। आपकी बलात्कार की धमकी का उत्तर युद्धस्थल में देना ही हम समुचित समझते हैं।

शुभमिति ज्येष्ठ भवदीय
शुक्ला ६ गुरूवार **विजयसिंह**

पत्र के पूर्ण होते ही नाहरसिंह क्रोध के मारे उछल पड़ा। सेनापति को उसी समय युद्ध आरम्भ करने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही रामसेन सेनापति की दस हजार सेना तैयार हो गई। और कूच का डङ्का बजते ही रवाना होकर मैदान में आ डटी।

इधर विजयसिंह महाराज का सेनापति कुंवरसिंह भी गाफिल नहीं था, पाँच हजार सेना लेके पहिले से ही आ जमा था। अब क्या था, रणदुन्दुभि बजने लगी। दोनों ओर से अस्त्र से मारकाट होने लगी। दो घण्टे तक भयानक युद्ध हुआ। रणभूमि मुर्दों के मारे श्मशान सी दिखने लगी।

इस दो घण्टे की घमासान लड़ाई के बाद अपने पक्ष के बहुत लोगों को मृत देखकर कुंवरसेन की सेना पीछे हटने की चेष्टा करने लगी और

उधर प्रतिपक्षियों का बल आगे बढ़ने लगा। यह देख कुंवरसिंह ने अपने शूरवीरों को ललकार कर कहा—"खबरदार बहादुरों! यह पीछे हटने का समय नहीं है देखो हम थोड़ी देर में विजय पाने वाले है।" स्वामी की ललकार से शूरवीरों ने अपना दल फिर आगे बढ़ाया, परन्तु आखिर पीछे हटना पड़ा। शत्रु की दस हजार सेना के सामने विजय पा लेना खेल नहीं था। दो हजार सेना कट मरी और शेष तीन हजार के पैर उखड़ गये। अत: रामसिंह ने विजय पाई। यह देखकर नाहरसिंह फूल के कुप्पा हो गया। उसकी सेना में आनन्द भेरी बजने लगी।

दिन भर के थके मांदे सूर्यदेव अस्ताचल शिखरशायी हो गये। प्रतीची देवी का कपोल-मण्डल अपने नाथ के स्वागत में मनोहर रक्तिमायुक्त हो गया। इसे देख कुटिल चिड़ियां चुहचुहाहट मचाने लगीं, और कुन्दकलिकाओं ने दांत निकाल दिये।

थोड़ी देर में चारों ओर से अन्धेरा दौड़ आया। गगन-मण्डल में षष्ठी का खंडित चन्द्रमा और उसके साथ तारागणों ने अपने आसन आ जमाये। दिनभर की गर्मी से जिस जगत् ने पजावे का रूप धारण किया था, उसमें इन थोड़ी-सी मूर्तियों के कारण शीतलता का संचार होने लगा। उधर निद्रादेवी का दौरा शुरू हुआ, और क्रम-क्रम से सारे जगत् ने उनकी गोद में अपना सिर रख दिया। कुंवरसिंह के लश्कर के सैंकड़ों योद्धाओं को आज रात्रि भर निद्रा नहीं आई।

चतुर्थ पर्व।

दूसरा दिवस हुआ। प्रात:काल होते ही दिवाकर महोदय युद्धकांड के दर्शक बनकर आ विराजे। उनके इस निष्ठुर दर्शक कार्य से प्राची देवी अतिशय अप्रसन्न थी, परन्तु ये मानने वाले देवता नहीं थे। देवी लाल-लाल नेत्र करती ही रह गई, पर ये अपनी इष्टसिद्धि में

नहीं चूके। दोनों ओर के योद्धा अपनी-अपनी प्रातःक्रियाओं से निश्चिन्त होकर और सर्व प्रकार से सुसज्जित हो, स्वामी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

आज महाराज विजयसिंह की बारह हजार और नाहरसिंह की बीस हजार सेना युद्ध क्षेत्र में अवतीर्ण हुई, और रणदुन्दभि बजते ही आपस में भिड़ गई। कुंवरसिंह और उसकी सेना कल की हार से बहुत लज्जित हो रही थी, इस कारण आज भूखे सिंह की तरह शत्रु पर टूट पड़ी। इधर रामसिंह और उसकी सेना कल के घमण्ड में जैसी चाहिये वैसी सावधान नहीं थी, इस कारण सम्मुख की मार न झेल सकी, इसलिये पीछे हटने लगी। अवसर पाकर कुंवरसेन ने सिपाहियों को उत्साहित करते हुए दबाना शुरू किया। रामसिंह की फौज भागने लगी। यह देख नाहरसिंह ने अपने पुत्र प्रतापसिंह को मदद के लिये भेजा। रामसिंह की सेना अपने पक्ष की वृद्धि देखकर लौट पड़ी और जोश से मार करने लगी। इस बार प्रतापसिंह के खड्ग से कुंवरसेन घायल होकर धराशायी हो गया। सेनापति के गिरने से सेना कुछ शिथिल हुई, परन्तु तत्काल ही कुंवर रणजीतसिंह को दस हजार फौज के साथ सहायता को आया देखकर जी तोड़कर लड़ने लगी।

रणजीत और प्रतापसिंह का एक पहर युद्ध हुआ। अन्त में लड़ते लड़ते प्रतापसिंह की तलवार मूठ से निकल कर गिर पड़ी। यह देख रणजीतसिंह भी अपनी तलवार फेंक शस्त्रयुद्ध छोड़ मल्लयुद्ध करने में प्रवृत्त हुआ। कुछ लड़ने के पश्चात् रणजीतसिंह ने प्रतापसिंह को निष्प्रताप कर छाती पर सवार होकर उसकी मुश्कें बांध ली और कैद कर लिया।

प्रताप के कैद हो जाने की खबर पाते ही नाहरसिंह अपनी पचास हजार फौज एक साथ लेकर रणजीत पर आ कूदा और उसे चारों ओर से घेर लिया। रणजीत दो घण्टे तक बड़ी बहादुरी से लड़ता रहा, परन्तु अन्त में शस्त्रहीन होकर नाहरसिंह के द्वारा कैद हो गया।

प्रतापसिंह छुड़ा लिया गया। नाहरसिंह का लश्कर विजय का डंका बजाता हुआ पड़ाव को लौट गया। आज नाहरसिंह और प्रताप के आनन्द का कुछ ठिकाना नहीं है। प्रतापसिंह मदनमालती के समागम के मीठे-मीठे स्वप्न देखने लगा और नाहरसिंह पुत्र विवाह की तैयारियों की उधेड़बुन में लग गया।

पुण्योदय के क्षय होने पर प्रतापवानों की अधोदशा होती है। ऐसा उपदेश देते हुए मरीचिमाली सूर्य अस्ताचल की ओट में हो गये। संध्यादेवी चारों ओर से खिलखिला के हंस पड़ी। उसकी हास्य प्रभा से थोड़े समय के लिये संसार में पीताम्बर-सा बिछ गया। उधर मानो ताक ही में बैठे थे, इस तरह अन्धकार देव आ धमके। आप संसार को दिखाने लगे कि अन्यायी और जुल्मी राजाओं का भी अस्तित्व कुछ समय पृथ्वी पर रहता है। थोड़ी देर में गगन मण्डप में चन्द्र ज्योत्स्ना और तारिकाओं की प्रभा खिलने लगी।

आज रात्रि को ही विजयसिंह का प्रतापशाली दरबार भर रहा है। सम्पूर्ण मन्त्री सरदार योद्धा और नागरिक धीमान् और लक्ष्मीवान यथास्थान विनय सहित बैठे हुए हैं। महाराज की मूर्ति किसी घोर चिन्ता मग्न होने की साक्षी दे रही है। सब लोग चुपचाप बैठे हैं। थोड़ी देर में मन्त्री ने महाराज की आज्ञानुसार घोषणा की कि, जो शूरवीर कल ही **नाहरसिंह को जीवित कैद करके रणजीत को छुड़ा लावेगा, उसको मैं अपनी कन्या मदनमालती ब्याह दूंगा और दहेज में आधा राज्य देके उसे सन्तुष्ट करूंगा।**

इस घोषणा को सुनके अनेक शूरों के मन राज्य कन्या की ललित लालसा से फड़कने लगे। परन्तु नाहरसिंह के पराक्रम को देखकर ज्वर चढ़ आता था, इस कारण घण्टे भर तक दरबार में सन्नाटा खिंचा रहा, कोई भी साहस करके आगे नहीं आया।

पाठकों! याद होगा कि, भूपसिंह सुवर्णपुर में ही है। रण समाचारों के पाने की इच्छा उसे निरन्तर ही रहती थी, इसलिये आज के दरबार में भी वह दर्शकों के साथ आ खड़ा था। सभा की इस

अवस्था को देखकर उससे रहा नहीं गया। चट सभा में प्रवेश करके महाराज के रक्खे हुए उक्त घोषणा के बीड़े को चाब गया।

दरबार के लोग आश्चर्य दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। महाराज इस क्षत्रिय पुत्र के साहस को देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने उठके उसे छाती से लगा लिया, और आशीर्वाद देके दरबार को बर्खास्त किया। मन्त्री और सेनापति को युद्ध की उचित व्यवस्था कर देने की आज्ञा देकर राजभवन को चले गये।

बुद्धसेन मन्त्री भूपसिंह को अपने साथ ले गये और एक पृथक् महल में उनके रहने की राज्योचित व्यवस्था कर दी। भूपसिंह भावी युद्ध की उत्साह की तरङ्गों में डूबता उछलता हुआ सुखशैय्या पर सो गया।

————

पंचम पर्व।

प्रातःकाल हुआ। सूर्यदेव नाहरसिंह को विजय लाभ से उन्मत्त देखकर व्यंगरूप में हंसने लगे। अभ्रपटल फट के इधर उधर बिखर गये। परन्तु नाहरसिंह ने नहीं जाना कि, ये मुझे भावी पराभव की सूचना देते हैं।

सब लोग प्रातःकालीन क्रियाओं के करने में दत्तचित हुए। दोनों ओर का सैन्य सुसज्जित हो गया। भूपसिंह पच्चीस हजार सेना के साथ युद्धक्षेत्र में पहुँचा। उसने सम्पूर्ण सेना को ५ टुकड़ों में विभक्त किया जिनमें से तीन टुकड़े तीन दिशाओं में कर दिये, एक टुकड़ा अपने साथ लिया और एक अपनी रक्षा के लिए कुछ पीछे रखा। उधर से नाहरसिंह का प्रधान सेनापति रामसिंह दस हजार सैन्य के साथ युद्ध को प्रस्तुत था।

रणभेरी बजते ही युद्धारम्भ हुआ। भूपसिंह ने घण्टे भर में रामसिंह की सेना को विह्वल कर दिया। वह जिस ओर को अपना धावा

करता था, उसी ओर से फौज की काईसी फट जाती थी। आज नवीन संचालक के मिलने से उनकी सेना में भी अपूर्व उत्साह था, रामसिंह की सेना हिम्मत हार के पलायनोन्मुख हो गई। यह देख रामसिंह अपना घोड़ा बढ़ाकर भूपसिंह के सन्मुख हुआ और ललकार के बोला। यदि तुझ में कुछ शक्ति है, तो मेरे सन्मुख आ देख ! मैं कैसी शीघ्रता से यमपुर का रास्ता बतलाता हूं। इन शब्दों के सुनते ही भूपसिंह का शौर्य भभक उठा। वह घोड़े पर से कूद के रामसिंह पर जा टूटा। वार को बचाकर उसने रामसिंह को ऐसी ठोकर लगाई कि, वह जमीन पर आ रहा। परन्तु फिर सम्भल के उठ बैठा और लड़ने लगा। दो ही हाथों में रामसिंह की तलवार बेकार हो गई। तब उसने भूपसिंह पर सेल चलाया परन्तु भूपसिंह उसे बचा गया, और बदले में एक हाथ तलवार का ऐसा मारा कि, सिर धड़ से जुदा हो गया।

सेनापति के गिरते ही सेना भागने लगी, परन्तु पन्द्रह हजार सेना सहित प्रतापसिंह के आ जाने से फिर जम गई। एक घण्टे के युद्ध में प्रतापसिंह कैद हो गया, भूपसिंह की विजय हुई, अब नाहरसिंह की स्वयं बारी आई। वह आग बबूला होकर अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ भूपसिंह पर आ टूटा। परन्तु भूपसिंह गाफिल नहीं था, इस समय इशारा पाकर उसकी सेना के तीन टुकड़ों ने तीन तरफ से नाहरसिंह को घेर लिया, और पीछे का टुकड़ा भी खास सेना में आ मिला। घनघोर युद्ध होने लगा।

एक प्रहर तक बराबर युद्ध होता रहा। ग्रीष्म से चिरसन्तप्त रणभूमि नररक्त से प्लावित हो गई। भूपसिंह की बहादुरी देखकर शत्रु की सेना के छक्के छूट गये। आखिर नाहरसिंह को स्वयं सम्मुख होना पड़ा। भूपसिंह का एक तलवार का वार ढाल को फोड़कर नाहर-सिंह के कन्धे में गहरा घाव कर गया, उसकी कुछ परवाह न करके नाहरसिंह ने भूपसिंह पर सेल चलाया, परन्तु उसके पहिले ही भूपसिंह

का सेल माथे पर जा धमका। जिसकी चोट से वह तिलमिला कर धराशायी होकर भूपसिंह की कैद में हो गया।

मालिक के परतन्त्र हो जाने से सेना ने हथियार डाल दिये और अधीनता स्वीकार कर ली। रणजीतसिंह को बन्धन से छुड़ाकर और प्रताप तथा नाहर दोनों कैदियों को लेकर भूपसिंह ने विजय पताका उड़ाते और आनन्द दुन्दुभि बजाते हुए सुवर्णपुर में प्रवेश किया। भूपसिंह को विजयध्वनि नगरभर में गूँजने लगी। उनकी बहादुरी की यत्रतत्र प्रशंसा सुनाई देने लगी। सुवर्णपुर आनन्द कलरव से आकीर्ण हो गया।

महाराज विजयसिंह विजयध्वनि सुनकर स्वयं अगवानी के लिये आये। भूपसिंह ने महाराज को प्रणाम किया और रणजीत चरणों पर गिर पड़ा। महाराज ने दोनों को छाती से लगा लिया और आनन्दाश्रुओं से उनका अभिषेक किया। भूपसिंह को सम्बोधन करके कहा "आज का यह सौभाग्य तुम्हारे निमित्त से ही प्राप्त हुआ है।" इस राज्य की लज्जा आज तुम्हीं ने रक्खी है। तुम्हारे समान हितु दूसरा नहीं है। भूपसिंह ने इसके उत्तर में नम्र होके कहा, "महाराज यह सब आपके पुण्य का प्रताप है।" इस प्रकार वार्तालाप होने के पश्चात् सब लोग अपने-अपने स्थान पर गये। नाहरसिंह वगैरह कैदखाने में भेज दिये गये। यह देख दिवाकर महाराज को बड़ा वैराग्य हुआ। "जो कल आनन्द से अंग में नहीं समाता था, वह आज कैदखाने की हवा खा रहा है। छि: ऐसा संसार मुझे नहीं चाहिये, ऐसा सोच निशानाथ को राज्य देकर अस्ताचल की गह्वर गुफाओं में एकाकी विहार करने लगे।"

षष्ठ पर्व।

सुवर्णपुर में घर-घर आनन्द मंगल हो रहे हैं। जहां तहां सदावर्त

लग रहे हैं। जिनालयों में मंगलविधानों की मनोहर ध्वनि गूंज रही है। सब लोग उज्ज्वल वस्त्र भूषाभूषित गलियों में आते जाते दिखाई देते हैं। आज महाराज विजयसिंह की प्रतिज्ञानुसार मदनमालती का विवाह भूपसिंह के साथ होगा। प्रजा आज इसी आनन्द से उत्फुल्ल हो रही है।

मदनमालती भूपसिंह के गुण और रूप को सुनकर पहिले से ही मुग्ध हो रही थी, आज उसी अभीष्ट युवा के साथ शुभ लग्न में आर्ष-विधि पूर्वक उसका पाणिग्रहण हो गया। तब मदनमालती के आनन्द की सीमा का अनुमान पाठक ही कर सकते हैं।

इधर मदनमालती के स्वरूप और लावण्य को देखकर भूपसिंह का मन उनके हाथ से ही निकल गया। उन्हें मदनमालती के बिना अब एक घड़ी वर्ष-सी सूझने लगी। पर क्या करते लीक बंधन दुर्विचार है !

विवाह होने के तीसरे दिन सुहाग रात्रि की तैयारी होने लगी। एक स्वतन्त्र राजप्रसाद ऐशो आराम के सम्पूर्ण सामानों से सुसज्जित सखीजनों के साथ मदनमालती उस एकान्त महल में पहुँचाई गई, जैसे चातक मेघ की आशा में विह्वल हो जाता है, मदनमालती उसी तरह भूपसिंह के दर्शन को विह्वल हो रही है। उसके चंचल नेत्र द्वारमार्ग पर अचल हो रहे हैं, कर्ण आने की आहट की प्रतीक्षा में हैं, और शरीर स्पर्श सुख की वांछा से बाह्यज्ञान सून्यसरीखा स्थिर हो रहा है। अब आते हैं, अब आते हैं, इस प्रकार बहुत समय बीत गया, परंतु भूपसिंह नहीं आये। नगर में शोध खोज होने लगी परन्तु कहीं भी कुछ पता नहीं लगा। सब लोग इस प्रकार भूपसिंह के एकदम गायब हो जाने से विकल होने लगे। इतने में एक दासी ने आकर मदन-मालती के हाथ में एक पत्र दिया। वह उसे खोलकर बांचने लगी। न जाने उसमें क्या लिखा हुआ था कि, उसको बांचते ही मदनमालती एक बड़ी भारी आह खींचकर बेहोश हो गई।

———

सप्तम पर्व ।

वर्षा ऋतु का समय है। आकाश में चारों ओर मेघपटल उथल-पुथल मचा रहे हैं। छोटी-छोटी बूंदें पड़ रही हैं। हरियाली के सब्ज गलीचे पर पानी के करण एक विलक्षण शोभा को उत्पन्न कर रहे हैं। विरहीजनों के हृदय में लगकर झंझावायु तीर का काम कर रही है और पीछे से मयूरों की कूक तो गजब ही ढा रही है। इधर पपीहा का "पी ! पी !" शब्द विरहिणी मुग्धाओं को उद्विग्न कर रहा है। उनके हृदय में इन दो शब्दों से न मालूम कैसे-कैसे आशा-निराशा, संयोग-वियोग, अनुनय अभिमान आदि विकारों के विचित्र चित्र खिच रहे हैं।

दिन के तीन बज चुके हैं, परन्तु सूर्यदेव का आसमान में पता नहीं है। उनकी दो चार किरणें कभी-कभी किसी अभ्रपटल में से फूटकर बड़ी मनोहर लालिमा फैलाकर तत्काल ही छिप जाती हैं। कुल-वालाओं की प्यारी हास्य रेखा अरुणरुचिर ओष्ठों के बाहर समय तक नहीं ठहरती।

हम अपने पाठकों को इस समय विलासपुर के समीपवर्ती एक उद्यान में लिये चलते हैं। उद्यान की शोभा वर्णनीय है, परन्तु हम आज उसकी सौन्दर्य-कथा में उलझ कर व्यर्थ समय नहीं खोना चाहते, और उद्यान के उस हिस्से में पैर रखते हैं, जहाँ रूप की एक अपूर्व हाट लग रही है। वहां एक नवयौवनवाला कोकिलकंठविनिन्दित मनोहर स्वर से मल्हार गाती हुई झूला झूल रही है। और उसके चारों ओर खड़ी हुई अनेक कमनीय-कामनियां उसके गाने तथा झूलने में मदद करती हैं। उद्यान में चारों ओर सन्नाटा खिच रहा है। मानो उद्यान के सम्पूर्ण जीवजन्तु उस गान्धर्व अभिनय में सर्वथा मग्न हो रहे हैं। केवल दो चार झिल्लियां इधर उधर से अपनी तान लगा रही हैं। शायद ये अपने कंठों को मनोहर समझती हैं, इसलिये बिना आह्वान ही दम भर रही हैं।

पाठक ! आज बालिकाओं का प्यारा तीज का त्यौहार है। इस लिये यह विलासपुर के महाराजा की लाडली कन्या अपनी समवयस्क सहेलियों के साथ इस उद्यान में दोला-क्रीडा कर रही है। बुद्धिमान पिता ने कन्या की रक्षा के लिये थोड़ी सी सेना भी भेज दी है, जो समीप ही के एक जलाशय के किनारे सचेत और सन्नद्ध है।

विलासपुर के महाराज का नाम विक्रमसिंह है। उनकी महारानी मदनबेगा के इस एक कन्या के अतिरिक्त जिसका नाम सुशीला है, कोई दूसरी सन्तान नहीं है। सुतरां सुशीला पर राजदम्पति का असाधारण प्रेम होना चाहिए, इसके अतिरिक्त सुशीला के रूप और स्वाभाविक गुणों ने उन्हें और सम्पूर्ण राजपरिवार को मुग्ध कर लिया है।

सुशीला जिस समय ६-७ वर्ष की थी, उस समय अध्यापिका ने उसकी बुद्धि प्रखरता को देखकर सरस्वती की उपाधि दी थी। और अब तो सुशीला यथार्थ में सरस्वती है, न्याय-व्याकरण, धर्मशास्त्रादि विविध विद्याओं में वह असाधारण बुद्धि रखती है। अच्छे-अच्छे विद्वान् उसके पाण्डित्य को देखकर चकराते है। इस समय बालिका सुशीला ने यौवनावस्था में पदारोपण किया है, उसके अङ्ग प्रत्यंगों में से यौवन की प्रभा फूट रही है।

सुशीला में केवल रूप तथा विद्या ही नही है, किन्तु उसने लोकोत्तर शीलव्रत को धारण करके "सोने में सुगन्ध की" कहावत चरितार्थ की है। वह जानती है कि, स्त्रियों के सम्पूर्ण गुणो की प्रतिष्ठा इसी शीलव्रत से है।

इस उद्यान के सामने से ही एक छोटी-सी सड़क विलासपुर की ओर चली गई है। उस पर से चलने वाले को यह दोलाक्रीड़ा अभिनय अच्छी तरह दीख सकता है। परन्तु हम देखते हैं कि, आज उस सड़क पर से कोई आता जाता नहीं है। उद्यान के बीचों-बीच में एक छोटा-सा परन्तु सुन्दर बंगला बना हुआ है।

परमसुशीला सुशीला अपनी सहेलियों के सहित दोला क्रीड़ा में हो रही है। उसे खबर नहीं है कि, मेरी यह सरल बाल-क्रीड़ा किसी

के हृदय में कुछ कुटिलता का असर कर रही है। वह यह भी नहीं जानती कि, इस उद्यान में मेरे और मेरी सखियों के सिवाय और भी कोई है। पाठक ! इस समय उस सड़क पर एक युवा घोड़े को रोककर खड़ा हो रहा है और अपने अनिमिष-नेत्रों से सुशीला को देख रहा है। जैसे योगीश्वर परमसमाधि के समय आत्मध्यान में तल्लीन हो जाते हैं, वह नवयुवक सुशीला के ध्यान में उसी प्रकार मग्न है। सुशीला के अलौकिक रूप लावण्य को देखकर उसका मन उसके हाथ से चला गया है, जान पड़ता है, वह मुग्ध उसी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है, पर क्या गया हुआ मन फिर के आता है?

युवा की यह अवस्था मेघ महाराज से देखी नही गई, वे लगे मूसलाधार पानी बरसाने। अब क्या था रंग में भंग हो गया। सुशीला अपनी सहेलियों के सहित बागबंगले में जा छुपी। इधर नवयुवक के ध्यान की कली खुल गई। उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। उधर सायंकाल भी समीप आया, इसलिये सुशीला सखीजनों के साथ रथपर सवार होके महलों की ओर चल पड़ी। रक्षक सेना रथ के आगे-पीछे होली। युवा किंकर्तव्यविमूढ़ की नाई देखते ही रह गया। और थोड़ी देर में घोर अंधकार ने आकर समस्त पृथिवी को काली चादर से ढ़क दिया।

———

अष्टम पर्व

सूर्यपुर के एक राजप्रासाद में एक कमरा एशोआराम के सब सामान से सजा हुआ है। कमरे के बीचों-बीच एक पलंग बिछा हुआ है। उस पर पड़ा हुआ एक युवा करवटें बदल रहा है। आँखों से आंसुओं की धारा बह रही है। बदन में जौफ आ गया है। लबों पर खुश्की और चेहरे पर पीलाई झलक रही है। पलंग के पास ही कुर्सी पर एक दूसरा युवक बैठा हुआ है। दोनों में इस प्रकार बातचीत हो रही है।

मित्र बलवन्तसिंह ! सुशीला प्यारी सुशीला का वियोग अब सहा नहीं जाता। हाय ! वह भोली-भोली सूरत अब तक आँखों के सामने नृत्य करती है। यदि शीघ्र ही उसके मिलने का उपाय न होगा, तो प्यारे मित्र अब यह प्राणपखेरू इस तनपंजर में बहुत समय तक नहीं ठहर सकेंगे।

अजी उदयसिंह जी ! आप यह क्या कह रहे हैं ? होश को ठिकाने लाइये। आप राजपुत्र हैं, आपके लिये एक दो क्या दस सुशीला आ सकती है, क्षत्रिय पुत्र क्या स्त्रियों के लिये प्राणपखेरू उड़ाते फिरते हैं ? छि: धैर्य्य धारण कीजिये। इस तरह आतुरता से कुछ नहीं होगा। मुझे उसका पता ठिकाना ठीक-ठीक बतलाइये। मैं अभी जाता हूं।

(उछल के और खुश होके) क्या आप सचमुच मेरी सुशीला से मुझे मिला देंगे ? अच्छा तो लीजिये, उसका पता ठिकाणा मेरी इस नोट बुक में लिखा है, आप भी लिख लीजिये।

"बहुत अच्छा" ! कहके बलवन्तसिंह ने सुशीला का पता लिख लिया। और उसी समय वहां से रवाना हो गया। उसके चले जाने पर उदयसिंह फिर वियोगाग्नि में जलने लगा।

पाठक जान गये होंगे कि, यह वही युवा है, जो सुशीला को विलासपुर के उद्यान में झूला झूलती हुई देखके ध्यानस्थ हो रहा था। यह सूर्यपुर के राजा निहालसिंह का पुत्र है। इसका नाम उदयसिंह है, और वह दूसरा युवक जो बातचीत कर रहा था, इसका अभिन्न-हृदय मित्र बलवन्तसिंह है।

उदयसिंह की अवस्था मित्र के जाते ही और भी शोकप्रद हो उठी। कुसुमशर ने अकेला पाकर उसकी खूब खबर लेना शुरू की। उसके साथ सुकोमल पुष्पशय्या शूल का काम करने लगी। व्यजन समीर और चन्दनलेप ग्रीष्म की उष्ण लूओं और अग्निपात से भी अधिक दु:खदायी प्रतीत होने लगा।

अहो ! यह जीव रंचमात्र विषयसुख की लालसा से कैसे-कैसे उग्र दु:ख भोगता है। परन्तु जिन्होंने इसमें सुख मान रक्खा है, उन विषयों

में वास्तविक सुख का नाम निशान भी नहीं है । जो दुःख अत्यन्त क्रूर व्याघ्रादि जीवों के कारण से होता है, उससे भी अधिक दुःख इस विषयशत्रु के संसर्ग से सहने पड़ते हैं ।

अत्यन्त रुष्ट राजा जो कुछ दण्ड दे सकता है, विषयशत्रु का दण्ड उससे कहीं बढ़कर है । अतिरुद्र कालकूट विपाक से भी विषयों का विपाक अतिभयानक है । इस विषयशत्रुजनित दुःखों को भोगने की अपेक्षा काल के गाल में प्रवेश करना उत्तम है , दहदहाती अग्नि का दाह भी विषय दाह के सामने झक मारता है । आशी विष जाति के सर्पों के विष से भी इन विषम विषयों का विप उग्रतर है । जिन भोगों से बड़े-बड़े इन्द्र और चक्रवर्ती भी तृप्त नहीं हुए, उनसे हीनपुण्य इतर मनुष्य किस प्रकार तृप्त हो सकते हैं ? जिस नदी के प्रवाह में बड़े-बड़े उन्मत्त हाथी भी बह गये हैं, उसमें विचारे शशक की क्या अवस्था होगी ? जिन विषयों के सेवन से बड़े-बड़े ऋद्धिधारी देव भी सुख-लाभ नहीं कर सके, उन विषयों के आसेवन से यह विचारा क्षुद्र मनुष्य किस प्रकार सुखी होगा ? जिस केशरीसिंह के सन्मुख बड़े-बड़े मदोन्मत्त हस्ती भी गलितमद हो जाते हैं, उस क्रूर सिंह के सामने पद-दलित मृग की क्या दशा होगी ? यदि नदियों के जल से समुद्र तृप्त हो जावे, और ईन्धन से अग्नि तृप्त हो जावे तो कदाचित् यह प्राणी भी विषयों से तृप्त हो सकता है, परन्तु जब यह जीव भोग-भूमि और स्वर्गों के सुख से ही तृप्त नहीं हुआ तो काने गन्ने के समान मनुष्य जन्म के सुखों से किस प्रकार तृप्त हो सकता है। समुद्र के जल से जिसकी प्यास नहीं बुझी, तो भला छोटे-छोटे क्षित्यंकुरों की ओर से उसकी प्यास किस प्रकार बुझेगी ।

जो प्राणी इस विषय-शत्रु से प्रेरित हो अपने शरीर तथा कुटुम्ब के अर्थ घोर पापाचरण करते हैं, वे नरकों की घोर वेदना के पात्र होते हैं । यहाँ यह प्राणी घोर पापाचरण से जिस द्रव्य का सम्पादन करता है, उस द्रव्य का परिजन पुत्रकलत्रादि सब उपभोग करते हैं परन्तु जब उस घोर पाप के फल भोगने का समय आता है, तब उस

दु:ख का बटवारा करने को कोई पास भी नही फटकता है। नरकादिक के दु:खों की कथा को रहने दीजिये, यहीं पर चोर जिस धन को चोरी करके लाता है उसका उपयोग तो उसके समस्त कुटुम्बीजन करते हैं, परन्तु जेलखाने की हवा उस विचारे अकेले को ही खानी पड़ती है। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है, कि, यह सब बात प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह जीव पापाचरण से उपेक्षित नही होता।

प्यारे पाठकों! विषय भोगों से विरक्त महात्माओं को जो सुख होता है, इन्द्र और चक्रवर्तिओं का विषयजन्य सुख उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है। इसी कारण यदि सच्चे सुख की वाँछा है, तो शिव सुख के कारण भूत धर्म का साधन करो।

बड़े कष्ट से प्राप्त हुए कल्पवृक्ष सदृश मनुष्य जन्म को यदि भोगों में नष्ट कर दोगे तो फिर मनुष्य जन्म का संयोग दुर्लभ हो जायगा। परन्तु यदि यह मनुष्य दीर्घ संसार के कारण भूत विषम बिष समान विनश्वर काम भोगों को छोड़ देता तो नरक भूमि के घोर दुखों को किस प्रकार प्राप्त होता? कामिनी संभोग में जो इस जीव ने सुख मान रखा है, वह भी इसका भ्रम है, क्योंकि, जब श्वान हड्डी को मुख में डाल कर चूसता है, तब हड्डी की तीक्ष्ण नोंक से छिदकर उसके मुख में से ही रुधिर निकलता है। जिसके आस्वादन से अपने को सुखी मानता है। ठीक वैसी ही अवस्था कामिनी संभोग में है। कामिनी संसर्ग से निज तनुजनित–स्वेद विशेष के निकलने से ही यह प्राणी अपने को सुखी मानता है।

यदि वास्तव में देखा जावे तो सन्तोष के समान जगत् में कोई सुख नहीं है और तृष्णा के समान कोई दु:ख नहीं है। इस कारण जिन महानुभावों ने इन विषयों में तृष्णा का त्याग करके दिगम्बरीय दीक्षा का अवलम्बन किया है वे ही धन्य हैं। और मद मदन कषाय शत्रुओं के वशीभूत होकर विषय विसर्जन नहीं किया और नरकादिक के घोर दुखों से भयभीत नहीं हुए तथा संसार शरीर और भोगों से जिनसे विरक्तता नहीं हुई उनका मनुष्य जन्म पाना ही निष्फल है।

स्वजन, पुत्रकलत्र, माता-पिता, भाई, मित्र, धन, यौवन, बल, वीर्य, आयु और शरीर इत्यादि समस्त सामग्री को चपला चमत्कारवत् क्षणभंगुर देखता हुआ भी यह मूढ़ात्मा आत्मकृत्य से विमुख हो रहा है, यह बड़े दुःख की बात है। इस कारण जो सच्चे सुख की अभिलाषा है, तो संसार मार्ग से विरक्त होकर मोक्ष मार्ग में रमण करो! विषयों का सङ्ग छोड़कर ज्ञान का सङ्ग करो, युवति-सुख को छोड़कर शम-सुख का अवलम्बन करो। धर्म्यकृत्य को दैव के ऊपर छोड़कर पौरुष-हीन हो जाना, कदापि न्यायसङ्गत नहीं हो सकता। यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्धि नहीं होय तब ही दैवापराध मानना उचित है इस कारण सुख के वांछकों को उचित है कि, निरन्तर भगवत्पादार-विन्द में भक्ति पूर्वक आत्मतत्व की भावना भावें। विषय सुख से विरक्ति-पूर्वक समस्त सत्व वर्ग में मित्रता धारण करें। शास्त्राभ्यास कषायों के उपशम और संयम के धारण करने में अपनी शक्ति का उपयोग करें। और दूसरों के दोष सम्बन्ध में मूकता का अवल-म्बन करें।

नवम पर्व

पहर भर दिन चढ़ चुका है। पथिक जन मार्ग-क्रमण कर रहे हैं। छोटे-छोटे व्यापारी आस-पास के ग्रामों से नानाप्रकार की व्यापारी वस्तुयें घोड़े, बैलों तथा गाड़ियों पर लादे हुए गंवारी गीत गाते हुए नगर की ओर जा रहे हैं। मार्ग के दोनों ओर छोटे-छोटे बरसाती जलाशय भर रहे हैं। उनमें मेंढकों ने अपना बाजार गर्म कर रक्खा है, वृक्षलता पर इस समय विशेष सजीवता दृष्टिगोचर होती है। उनमें छिपी हुई झिल्लियों की झनकार ग्राम-वसियों को बड़ी प्रिय-कर लगती हैं।

इस समय एक युवती भगवा वस्त्र परिधान किये हुए विलासपुर की ओर जा रही है। उसके कन्धे पर एक भिक्षा की झोली और हाथ

में एक सितार है। कभी-कभी मौज में आकर वह सितार के एक दो तारों पर ठोकर लगा देती है, तो पथिकजन आशान्वित नेत्रों से उसकी ओर देखने लगते हैं। यह युवती वस्त्रभूषादि तथा रंगढंग से जोगिन सी जान पड़ती है, इसलिये हम इसे कुछ समय तक जोगिन ही कहेंगे।

जोगिन मार्गातिक्रमण करके विलासपुर में पहुंची और नगर में दो चार गलियों में थोड़ी देर घूमघाम कर सुशीला के महल के नीचे पहुंच कर गाने लगी। जोगिन ने ऐसी बढ़िया ठुमरी गाई कि सुशीला उसको सुनकर चकित हो गई। उसने शीघ्र ही एक लड़की को भेजकर जोगिन को महल में बुला लिया और गाना सुनने की इच्छा प्रकट की। आज्ञा पाते ही जोगिन ने दो चार अच्छी-अच्छी ठुमरी सुनाई। सुशीला अतिशय प्रसन्न होकर इसे एक अशरफी देने लगी। परन्तु जोगिन ने अशर्फी नहीं ली। झुक के प्रणामकर बड़ी लापरवाही के साथ खाली हाथ महल के बाहर हो गई।

जोगिन की इस निस्पृहता को देखकर सुशीला और उसकी सखियां चकित हो रही थीं। परन्तु रेवती नाम की मुख्य सखी ने उसकी चाल ढ़ाल पर एक भेद भरी विलक्षण दृष्टि फेंकी। और उसके चले जाने पर उसके विषय में बड़े गौर से विचार करने लगी। इसको इस प्रकार गंभीर विचार में डूबी हुई देखकर सुशीला से नहीं रहा गया। वह पूछ बैठी—

सुशीला—क्यों रेवती ! आज तू किस विचार में डूब रही है ?

रेवती—कुछ नहीं, ऐसे ही कुछ सोच रही थी।

सुशीला—आखिर उसका कुछ नाम भी तो होगा ?

रेवती—मैं इस जोगिन के विषय में ही कुछ विचार रही थी।

सुशीला—क्यों इस पर भी कुछ सन्देह हो गया क्या ?

रेवती—हां मेरी समझ में इस जोगिन के वेष में कुछ गुप्त रहस्य है।

सुशीला—(आतुरता से) सो क्या ?

रेवती—जान पड़ता है, कोई पुरुप जोगिन के वेष में किसी गुप्त मतलव से यहाँ आया था ?

सुशीला—रेवती ! तुझे बैठे बिठाये खूब मतलब सूझा करते हैं। भला ! तुझे कैसे मालूम हुआ कि वह पुरुष था ?

रेवती—उसके रंग ढङ्ग कुछ ऐसे ही नजर आते थे। परन्तु कुछ चिन्ता नहीं है। जब एक बार आया है, तो फिर भी आवेगा। अब की बार ऐसा छकाऊं, कि वह भी याद करे।

इस प्रकार कह कर रेवती वहाँ से उठ खड़ी हुई और जोगिन के विषय में छानबीन करने लगी। उधर जोगिन महल से निकलते ही छूमन्तर हो गई। और फिर विलासपुर में कहीं उसकी शकल नजर नहीं आई।

दशम पर्व

दूसरे दिन प्रातःकाल ही सुशीला सुखशय्या से उठकर बैठी हुई पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण कर रही थी कि, अचानक उसकी नजर पलंग पर पड़े हुए बन्द लिफाफे पर पड़ी। जिस पर उसका नाम और राजकुमार उदयसिंह की मुहर लगी हुई थी। उसे देखते ही, वह चौंक पड़ी, और घबड़ा कर रेवती ! रेवती ! इस प्रकार जोर से पुकार ने लगी। सुशीला के जीवन में यह एक नवीन और अस्वाभाविक घटना थी।

सुशीला की घबड़ाई आवाज सुनकर रेवती दौड़ती हुई आई, और बड़ी शीघ्रता से बोली,

रेवती—क्यों बाई ! तुम इतनी घबड़ा क्यों रही हो ?

सुशीला—देख तो सही ! बात ही घबड़ाने की है, इस लिफाफे को तो देख ?

रेवती ने सुशीला के हाथ से लिफाफा ले लिया, और खोलकर

आद्योपान्त बाँच चुकने पर फिर सुशीला के हाथ में दे दिया। पत्र में इस प्रकार लिखा हुआ था।

श्री जिनाय नमः

प्रिय-सुशीले ! जिस दिन से तुम्हारी मनोहर-मूर्ति को उस बाग में झूलते हुए देखा है, उस दिन से मेरा मन मेरे हाथ में नहीं रहा है। रात्रि-दिन तुम्हारी त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति मेरे नेत्रों के सामने झूलती रहती है। क्या इस समय जैसे तुम मेरे हृदय और नेत्रों के सन्मुख विराजमान रहती हो, उस तरह कृपा कर मेरे शरीर के समीप भी बैठोगी ? हाय ! तुम्हारे शीतल शरीर की वियोग ज्वाला मुझे झुलसाये डालती है, क्या उसकी शान्ति करके अपनी स्वाभाविक कोमलता का परिचय दोगी ? इत्यलम्। अधिक लिखूं। तुम स्वयं बुद्धिमती हो।

शुभ मिति प्रणयाभिलाषी
श्रावण सुदी १८ उदय

इस पत्र को पढ़कर सुशीला छक्क हो गई। रेवती के नेत्र क्रोध के मारे अरुण हो गये। और होठ फड़कने लगे। कोमलाङ्गी सरला रेवती की उस समय की वीरमूर्ति देखने योग्य थी। वह हाथ मल-मल के सुशीला से कहने लगी—क्या करूं, अब की बार गफलत में मारी गई। लेकिन फिर भी कुछ चिन्ता नहीं है। अब की बार उस हराम-जादे को सजा दिये बिना नहीं रह सकती। ऐसा कहकर अपने प्रयत्नों में दत्तचित हुई। भोली सुशीला इस मामले को कुछ न समझ सकी, और चकित नेत्रों से देखती ही रह गई। रेवती से कुछ विशेष वार्तालाप न कर सकी।

हमारे दूरदर्शी पाठक समझ गये होंगे कि, यह सब कार्यवाही बलवन्तसिंह की है। जोगिन के वेष में यही बलवन्त सुशीला के महल में भेद लेने को आया था। और दूसरी बार उदयसिंह की मुद्रायुक्त चिट्ठी भी सुशीला के पलङ्ग तक इसी ने पहुंचाई थी। आजकल उदय सिंह भी बिलासपुर में आ गया है। दोनों एक कोठरी किराये से

लेकर गुप्त वेष से नगर में रहते हैं, और अपने षड्यन्त्र चला रहे हैं।

आधी रात बीत चुकी है। चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ है। मेघों ने आसमान को सर्वथा ढक रक्खा है, अतः चेष्टा करने पर भी कहीं कुछ नजर नहीं आता, कभी-कभी उस अविरल अन्धकार को फाड़कर बिजली चमक कर लुप्त हो जाती है। ऐसी भयावनी रात्रि में बलवन्तसिंह और उदयसिंह दोनों सुशीला के महल के पीछे आये, और एक कमन्द लगाकर खिड़की के मार्ग से सुशीला के शयन-गृह में पहुँच गये।

सुशीला एक सुन्दर सुसज्जित पलङ्ग पर दुशाला ओढ़े सो रही है। मनोहर मुख मण्डल का कुछ भाग उघड़ रहा है। उस पर केश-कलापों की एक लट पड़कर 'लोभतें अमियके अहि चढ्यो चन्द्रपे' की कल्पना उद्‌भूत कर रही है। उदयसिंह का हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो गया। सदसत् का विचार किये बिना ही वह उस सरला निष्पाप-निष्कलंक कन्या को हाथ पकड़ के उठाने लगा। परन्तु उठा नहीं सका! सुशीला का बदन सर्वथा शीतल और ढीला-सा देख के वह चौक पड़ा। और बलवन्त को नजदीक बुला के कहने लगा।

उदय—बलवन्त! देखो तो सही! इसका बदन ठण्डा क्यों पड़ गया है।

बलवन्त—(नाड़ी पर हाथ रख के) अरे! यहाँ तो नाड़ी का भी पता नहीं है।

उदय—और ये देखो तो श्वास भी तो नहीं परन्तु इसके शरीर में से सुगन्ध बड़ी मजेदार आ रही है।

बलवन्त—ठीक कहते हो! पर मुझे तो इसमें कुछ सन्देह होता है।

उदय—ए! और मेरा मस्तक क्यों घूमता है?

इतना कहते कहते उदयसिंह जमीन पर ढुलक पड़ा। और उसके कुछ ही पीछे बलवन्त ने अपने पैर फैला दिये। दोनों की चेतना विदा हो गई।

———

ग्यारहवां पर्व

प्रात: काल का समय है। उदयाचल पर्वत की ओट में से निकल कर ज्यों ही सूर्यदेव ने झुक के देखा कि, अन्धकार महात्मा रफूचक्कर हुए। उन्होंने लौट के पीछे को देखा भी नहीं। उनके साथ और व्यभिचारी और उलूक भी नौ दो ग्यारह हो गये। मरीचिमाली सूर्य गगन मण्डप के सिंहासन पर आ विराजे। उनके आते ही अराजकता से सन्त्रस्त संसार प्रसन्न चित्त दिखलाई देने लगा, और लोग अपने-अपने इष्ट कार्यों में दत्तचित्त हुए राज मार्गों पर आने जाने लगे।

इस समय विलासपुर के राज भवन के एक बड़े कमरे में राजा विक्रमसिंह का दरबार लगा हुआ है। दरबार मामूली है, और उसमें मन्त्री, सेनापति आदि खास-खास आदमी यथास्थान बैठे हुए हैं। एक ओर रेवती हाथ जोड़े निम्न दृष्टि किये हुए खड़ी है, सामने चार सिपाही हथकड़ी बेड़ियों से विवश दो कैदियों को लिये खड़े हैं, उनके हाथ में नंगी तलवारें चमक रहीहैं। कैदी बड़ी घृणा के साथ रेवती की ओर देख रहे हैं। इसी कमरे की दाहिनी ओर एक चिक पड़ी हुई है, उसके भीतर से रानी मदनवेगा और कन्या सुशीला इस दृश्य को देख रही हैं, दरबार में मानसिक उछल कूद के सिवाय सब प्रकार सब तरह से शांतिता विराजमान है। थोड़ी देर में महाराज ने रेवती की ओर देख के पूछा, क्यों रेवती ! इन लोगों के विषय में तू क्या कहना चाहती है।

रेवती—महाराज ! आज रात को श्रीमती सुशीला के महल में मैंनें इन दोनों को गिरफ्तार किया है। ये लोग जिस बदनियत से महल में घुसे थे, उसे मैं पहले से जानती थी, इस कारण सब प्रकार से सचेत थी। यही कारण है कि, आज मैंने बड़ी सरलता में महाराज के चरणों के प्रसाद से इन्हें गिरफ्तार कर लिया। मैं आशा करती हूं कि, इनकी गुस्ताखी का इन्हें उचित दण्ड दिया जावेगा।

म०—(रेवती से) ठीक है, इनकी करतूतों का फल इन्हें चखाया

जावेगा। (मन्त्री से) शूरसेन! इन महात्माओं से इनका परिचय तो पूछो?

शूरसेन—(एक से) क्यों तुम्हारा नाम क्या है?

एक०—कुछ नहीं।

शूरसेन—(दूसरे से) और तुम्हारा?

दू०—सब कुछ।

रेवती—महाराज! इससे कुछ लाभ नहीं निकलेगा। ये इस तरह कुछ नहीं बतावेंगे। मैं इनका सब भेद जान चुकी हूँ। इनमें से ये (एक की ओर इशारा करके) तो सुवर्णपुर के महाराज निहालसिंह के सुपुत्र उदयसिंह हैं और ये (दूसरे की ओर इशारा करके) इन्हीं के मित्र बलवन्तसिंह है। दोनों ने ही बड़े अच्छे कार्य पर कमर कसी है। बड़ों की शोभा इसी में है।

म०— मन्त्री से) अच्छा तो इन्हें अब होशियारी से कैदखाने की हवा खिलाओं। महलों की गन्दी हवा खाते-खाते बेचारों की नाकों दम आ रही होगी।

इतना कहकर शूरसेन दोनों कैदियों को अपने साथ लेकर वहां से उठ खड़े हुए, और उनको बन्दोबस्त के साथ कैदखाने में भेज दिया। इसके बाद दरबार बरखास्त कर दिया गया। महाराज अन्त:पुर में चले गये। सुशीला अपनी सखी रेवती के साथ अपने महल को चली गई।

———

द्वादशवां पर्व

रात्रि को १० बजे हैं। महाराज अपने शयनागार में महाराणी मदनवेगा के साथ एक सुसज्जित पलंग पर तकिये के सहारे से बैठे हुए एक बड़े गम्भीर विषय में बातचीत कर रहे हैं।

मदनवेगा-महाराज ! सुशीला निरी बालिका नहीं रही है। यह मैं आप से कई बार कह चुकी हूं, परन्तु खेद है कि, आप ध्यान नहीं देते। हम स्त्रियों की बुद्धि ओछी गिनी जाती है, इसलिये हमें आपके अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यह ठीक है, परन्तु इस विषय का अनुभव जितना स्त्रियों को होता है, मैं समझती हूँ उतना आपको नहीं होगा। इसलिये पुनः पुनः प्रार्थना करती हूँ। सुशीला की अवस्था १४ वर्ष की हो चुकी है। उसके साथ की अनेक लड़कियों को मैंने देखा है कि वे पूरी गृहिणी हो चुकी हैं। उनकी गोद में छोटे छोटे बालकों को देखकर उनकी माताओं को कितना हर्ष न होता होगा ? क्या मैं अपनी सुशीला को भी इस भाव से देखूंगी ? नगर की अनेक बड़े-बड़े घरों की स्त्रियाँ मुझे प्रतिदिन उलाहना देती और ताने मारती हैं कि मुशीला के विवाह की अपने यहाँ अभी तक चर्चा भी नहीं है।

विक्रमसिंह—प्रिये ! मैं आज तुम्हारे प्रस्ताव से प्रसन्न हूँ, और बहुत शीघ्र सुशीला के योग्य वर की तलाश करूंगा परन्तु अभी तक तुम्हारा और तुम्हारे नगर की स्त्रियों का आक्षेप व्यर्थ ही है। क्योंकि शास्त्र में व्यवहार प्राप्त होने पर ही कन्याओं का विवाह करना योग्य कहा है। और इस बात को तुम स्वयं जानती हो कि सुशीला में अभी तक व्यवहार की योग्यता नहीं आई है। अपनी सुशीला बड़ी बुद्धिमती कन्या है, उसमें किसी के भी आक्षेप को जगह नहीं है।

मदनवेगा—महाराज ! यह ठीक है, अपनी सुशीला सचमुच एक देव कन्या है। उसे अपने पढ़ने लिखने से कभी फुरसत ही नहीं मिलती, नित्य नवीन ग्रन्थों को लिखवा कर मंगाने और स्वतः लिखने पढ़ने के सिवाय उसे मैंने कभी सखी सहेलियों में हंसी ठठोली करते नहीं सुना। और ऐसी वैसी सखियों का उसके पास निर्वाह भी तो नहीं है। अभी कल ही एक सखी को उसने मर्यादा रहित हंसी करते देख महलों से निकलवा दिया है। मैं देखती हूँ, नगर की जितनी पढ़ी लिखी स्त्रियाँ

हैं वे उसके पास रोज आती हैं, और घड़ी दो घड़ी ग्रन्थ चर्चा करके प्रसन्नता से जाती हैं।

विक्रमसिंह—इसके सिवाय तुम्हें यह भी जानना चाहिये कि छोटी उमर में विवाह कर देने से भावी सन्तान बहुत कमजोर होती है, जिससे संसार का अकल्याण होता है। जिन बालक बालिकाओं के छोटी उमर में ही विवाह हो जाते हैं, उनका पारस्परिक स्नेह नष्ट हो जाता है, और वे प्राय: आरोग्यता से हाथ धो बैठते हैं। हमारे क्षत्रिय कुल में सदा से प्रौढ़ विवाह होते आये हैं। यही कारण है कि हम में अब तक वीरता बनी हुई है। तुमने जिन बालिकाओं के सन्तान सुख को देखकर सुखी होना चाहा है, वह सुख दिखावटी और अविचारित-रम्य है। यदि प्रौढ़ विवाह के मर्म को समझ जाओगी, तो शीघ्र ही तुम्हारा वह भ्रम दूर हो जावेगा। बालकों के माता-पिता ही अपनी सन्तानों को सुखी दु:खी करने के कारण हैं। विवाह कार्य गुड़ियों का खेल नहीं है, यह बड़ा गम्भीर और विचारणीय कार्य है। बालकों के लालन-पालन पर जितना ध्यान देने की आवश्यकता है, उससे कई गुना ध्यान इस ओर देना चाहिये। सुशीला के विवाह के विषय में मैंने कभी विचार नहीं किया, अथवा ध्यान नहीं दिया, ऐसा समझना तुम्हारी भूल है। मैं निरन्तर इसकी चिन्ता रखता हूँ। परन्तु अभी तक किसी स्थान और योग्य वर के न मिलने से ही मैं चुप हो रहा था।

मदनवेगा—प्राणनाथ! यह सचमुच मेरा भ्रम था। मैंने नहीं जाना कि आप स्वयं इस विषय में इतना मनन कर रहे हैं। परन्तु दासी की हीन बुद्धि में यह बात नहीं आती कि देश भर में कोई योग्य वर और स्थान नहीं मिला सो कृपा करके समझा दीजिये।

विक्रमसिंह—(मुस्करा के) स्त्रियों की बुद्धि बाहरी दृश्यों में जल्दी अनुरक्त हो जाती है। वस्त्राभूषणों से लदा हुआ और हाथ पैर से सुडौल पुरुष देखा कि उनका जी पानी-पानी हो जाता है। परन्तु किसी पदार्थ के बाह्य सौन्दर्य पर रीझ के उसकी उत्तमता अनुस-

मता का निर्णय कर बैठना बड़ी भारी भूल है। इन्द्रायण का फल देखने में बड़ा प्यारा होता है, परन्तु उससे कई गुना कडुआपन भी उसमें रहता है, अतएव स्थान और वर की योग्यता अयोग्यता की जाँच लक्ष्मी और सुन्दरता से नहीं किन्तु शिष्टता और बुद्धिमत्ता से करना चाहिये। यही कारण है कि मैं अभी तक सुशीला के योग्य वर और स्थान का अन्वेषण नहीं कर सका। सुशीला के समान, ही गुणवान रूपवान वर और सब प्रकार से सुख सम्पन्न घर ढूँढना हमारा परम कर्तव्य है। और अब तुम समझ सकती हो कि ऐसे योग्य वर और घर का शोधना कितना मुश्किल कार्य है।

मदनवेगा—महाराज! आपका विचार बड़ा सुन्दर है। मेरी सुशीला बड़ी पंडिता है, उसे उसी के समान विद्वान् पति मिलेगा तब ही वह सुखी हो सकेगी इसमें सन्देह नहीं है। कल सुशीला की अध्यापिका को बुलाकर मैंने उनसे इस विषय की बातचीत की थी, सो उन्होंने भी कहा था कि हमारी सरस्वती* को वृहस्पति के समान ही वर ढूंढ़ना चाहिये। वे और भी कहती थीं कि सरस्वती कोई साधारण बालिका नहीं है, उसके पांडित्य को देखकर दाँतों में अंगुली दवानी पड़ती है।

विक्रमसिंह—अध्यापिका का कहना असत्य नहीं है, सरस्वती साक्षात् सरस्वती ही है। यदि तुम्हारी सम्मति हो तो सुशीला का स्वयंवर मंडप रचने की इच्छा है। मेरे एक वृद्ध मन्त्री ने कहा है कि स्वयम्वर मण्डप में सुशीला शास्त्रार्थ करके जो राजकुमार जीत लेवे, उसी को वरमाला पहनाई जावे। मन्त्री की उक्त सम्मति बहुत योग्य समझता हूँ, अब केवल तुम्हारी आज्ञा लेने की आवश्यकता है, क्योंकि तुम सुशीला की माता हो।

मदनवेगा—(मुस्करा के लज्जित हो के) धन्य है! मैं सुशीला की माता हुई पर आप कोई नहीं। हँसी को आप से कभी छुट्टी भी मिलती है।

---

*पाठकों को याद होगा कि सरस्वती सुशीला की उपाधि थी।

विक्रमसिंह—जी ! जहाँ श्रीमती विराजमान है, वहाँ कमबख्त हंसी खुशी को छुट्टी कहाँ, आपकी नजर ओट में हुई कि वह भी रफू-चक्कर होती है।

मदनवेगा—बस ! रहने दो जी, ये चोचले, मुझे इस प्रकार बड़ाई करके कीचड़ में न घसीटा करो। मैं आपकी चरणदासी हूँ। मेरे शरीर पर भी जब आपका पूरा अधिकार है, तब अन्य विषयों के अधिकार का छप्पर मेरे सिर पर रखना मुझे खिजाना ही है।

विक्रमसिंह—(रानी की ठोड़ी को पकड़ के मुस्कुराते हुए) अच्छा देवी जी ! तो आप क्रोध न करें, आप ही की जीत सही। क्षमा कीजिये। अब रात्रि बहुत बीत गई है, अतः शयन करने की आज्ञा दीजिये।

मदनवेगा—(पांवों में पड़के और खीज के) भगवान जाने आप कभी ताने मार-मार के तृप्त होंगे कि नहीं, मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूं, मुझे यों पाप में मत घसीटो।

———

त्रयोदशवां पर्व

रात्रि के दो बज चुके हैं। चारों ओर प्रकृति देवी की शान्तिता विराजमान है। कंचनपुर की गलियों में पुलिस के सिपाही आवाज लगा-लगा के पहरा दे रहे हैं, और कहीं-कहीं उनका अनुकरण करके कुत्ते भोंक रहे हैं। इन बेचारों को अभी तक इस नौकरी के बेतन का कहीं से प्रबंध हुआ कि नहीं सो किसी अखबार में नहीं पढ़ा। पराधीन पहरूओं के सिवाय नगर के सब अमीर गरीब सुखनिद्रा ले रहे हैं। इस समय रतनचन्द्रजी के कमरे में हम उसकी स्त्री रामकुंवरि को पेट के दर्द से व्याकुल देखते हैं। रतनचन्द्र पलंग पर एक ओर सो रहा है। रामकुंवरि का दर्द बहुत बढ़ गया, इसलिये वह धैर्य नहीं बांध सकी और जोर-जोर से चिल्लाने लगी। उसके चिल्लाने से रतनचन्द्र जाग

के उठ बैठा, और हक्काबक्का-सा होके वैद्य को बुलाने की तजवीज करने लगा। नौकर को पुकारा, परन्तु कुछ उत्तर न मिलने से वह स्वयं अपने हाथ में एक लकड़ी लेके वैद्य के यहाँ जाने को चल खड़ा हुआ।

वैद्य के घर का रास्ता रतनचन्द्रजी की दुकान पास से होकर ही गया है। सो ज्यों ही रतनचन्द अपनी दुकान के सामने पहुँचा कि उसने एक आदमी को अपनी दुकान के जीने पर से ऊपर जाते हुए देखा। उस आदमी का सारा शरीर काले कम्बल से ढका हुआ था, और हाथ में कोई हथियार चमक रहा था। इस दृश्य को देखकर रतनचन्द अपनी श्रीमती की पीड़ा को भूल गये और कुछ सोच के तत्काल ही धीरे-धीरे दबे पैर उस आदमी के पीछे-पीछे जीने पर चढ़ गये। वह आदमी दूकान के कमरे में पलंग पर सोते हुए पुरुष का काम तमाम करने को ही था कि पीछे से लपक कर रतनचन्द्र ने उसका हाथ पकड़ लिया। हाथ पकड़ते ही उस घातक ने रतनचन्द्र की ओर फिर के देखा। देखते ही उसके देवता कूच कर गये और इधर घातक की सूरत देखते ही रतनचन्द्र के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

पाठक! आप चिन्तातुर न होइये, हम बतलाये देते हैं कि ये घातक महाशय और कोई नहीं, रतनचन्दजी के सपूत हीरालालजी हैं। आप निरपराधी जयदेव का सिर काटने को आये थे, परन्तु उसमें रतनचन्द्र ने आकर विघ्न डाल दिया। पलंग पर बेचारा जयदेव सो रहा है, उसको खबर ही नहीं है कि मेरे लिए कैसे-कैसे चक्र चल रहे हैं।

रतनचन्द्र हीरालाल के हाथ से तलवार छीनकर फिर उसे नीचे की दुकान में ले आया और कहने लगा।

र०—रे पापात्मन! तूने यह कैसा अधम विचार किया था? छि:! जयदेव सरीखे धर्म परायण पुरुषरत्न पर भी तेरा यह हिंसक हाथ उठ सकता है?

हीरालाल—जयदेव धर्मपरायण नहीं, अत्यन्त पापी और नराधम

है। और मैंने शीघ्र ही उसे यमपुर पहुँचाना अपना कर्तव्य समझा है।

रतन०-(विस्मित होके) तेरे पास उसके अधर्मी साबित करने का कुछ सबूत है ?

हीरा०—हाँ, है, और उसे आप भी जानते हैं, परन्तु आप जान बूझ के अजान बन रहे हैं। उस दिन मौसी विमाता ने इसके अत्याचार का आप से सब हाल कहा था, परन्तु जब आप उसे बिल्कुल पानी की घूँट पी गये, तब मैंने स्वयं ही उसको दण्ड देना उचित समझा।

रतनचन्द्र—क्या तुझे स्वयं जयदेव के अत्याचार का विश्वास है ?

हीरा०—हाँ ! पूरा-पूरा विश्वास है। और मैं आप से आज शपथ पूर्वक कहता हूँ कि यदि आप उसे घर से नहीं निकालेंगे, तो मैं उसकी जान लिये बिना नहीं रहूँगा।

रत०—(कुछ सोचकर) अच्छा, आठ दिन के पहले-पहले मैं इसका निबटारा कर दूँगा, परन्तु याद रखना, तब तक कोई बारदात न होवे। यदि मेरी इस बात का कोई उल्लंघन करेगा तो अपने किये का फल पावेगा। इतना कहकर रतनचन्द वैद्य के यहाँ गया और वहाँ से कुछ औषधि लाकर उसने रामकुंवरि को खिलाई। खिलाते ही थोड़ी देर में उसकी पीड़ा शांत हो गई। और तब दोनों सुख से सो रहे।

———

चौदहवाँ पर्व

जयदेव को कंचनपुर में रहते हुए बहुत दिन बीत गये। सुशीला के विरह और भूपसिंह के विछोह का काँटा उसके हृदय में उठते बैठते, चलते फिरते निरन्तर चुभा ही करता था। और इधर रतनचन्द के घर की घटनाओं से, जो आजकल हुआ करती थी, उसका चित्त और भी चिन्तित रहता था, सो जयदेव के शरीर की दशा में परि-

वर्तन हो गया था। उसका निष्कलंक मुखमण्डल यद्यपि खूब तेजस्वी और कांतिमान था, परन्तु शोक चिन्ताओं की पीली कलई उस पर चढ़ गई थी। बड़ा भारी विद्वान् होकर भी जयदेव शोक चिन्ताओं से अलिप्त नहीं रह सका, यह ठीक है, परन्तु उसको कभी किसी ने चिन्तित और अन्यमनस्क नहीं देखा। यह सदा प्रसन्नमुख रहता था, और अपने कार्य का बड़ी बुद्धिमत्ता से सम्पादन करता था। उसकी एकवाक्यता, सत्यता और सरलता से रतनचन्द की दूकान पहले से चौगुनी चल पड़ी थी।

आज प्रातः ही जयदेव की शरीर चेष्टा बहुत कुछ शोकाच्छन्न दीखती है। वह अभी शय्या त्याग कर उठा है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उसने रात्रि भर निद्रा नहीं ली। आज वह अपने मुख की शोकच्छाया के छुपाने की बहुत चेष्टा में है, परन्तु छुपा नहीं सकता। पुस्तकादि पढ़कर भी अपने चित्त को बहलाने का प्रयत्न किया, परन्तु निष्फल हुआ आखिर पलंग से उठके बाहर आया। और आवश्यक कार्यों से छुट्टी पाकर उसी समय रतनचन्द जी से एकान्त में जाकर मिला। दोनों में इस प्रकार बातचीत होने लगी।

जयदेव—सेठ जी ! मैं आपकी कृपा का बहुत आभारी हूँ। आपने बड़े संकट के समय आश्रय देके मेरा उपकार किया है, मैं उसे कभी भूल नहीं सकता। आज प्रार्थना यह है कि अनेक कारणों से अब मेरा यहाँ चित्त नहीं लगता है, इसलिये मुझे घर जाने की आज्ञा दीजिये।

रतनचन्द—जयदेव ! तुम सरीखे सच्चे सदाचारी पुरुष को मैं छोड़ नहीं सकता। न जाने क्यों मेरा जी तुम्हें बहुत चाहता है परन्तु इधर कुछ दिनों से जब मैं तुम्हें एकांत में देखता हूँ तब तुम कुछ विशेष चिन्तित दीखते हो। तुम स्वयं बुद्धिमान हो, इसलिये चिन्ता नहीं करना चाहिये यह शिक्षा भी नहीं दे सकता। और दूसरी क्या चिन्ता है, यह जान मैं नहीं सकता, जो कुछ कहूँ।

जयदेव—(नीचा मस्तक करके) सेठजी ! आपकी कृपा और प्रेम को मैं जनता हूँ, और चिन्ता के फल को जानता हूँ, परन्तु क्या

करूँ विवश हूँ। चित्त किसी तरह नहीं लगता, और न आगे लगने का कुछ उपाय ही सूझता है, अतः लाचार प्रार्थना करता हूँ।

रतन—अस्तु, अब मैं इस विषय में कुछ आग्रह नहीं कर सकता। परन्तु एक जरूरी काम के लिये मुझे खेटपुर जाना है। वहाँ मुझे ८-१० दिन लगेंगे, तब तक ज्यों त्यों और भी तुम्हें रहना चाहिये। वहाँ से आते ही मैं तुम्हारी बिदा अवश्य कर दूँगा।

जयदेव—(चिन्तित होके) आपकी इच्छा! परन्तु जहाँ तक बने आप वहाँ अधिक दिन न लगावें, क्योंकि मैं बहुत दुःखी हूँ।

रतनचन्द—नहीं! ऐसा नहीं होगा, मैं बहुत जल्दी आऊँगा। यह सुनके जयदेव वहाँ से चला आया, और सेठजी ने अपने चलने की तैयारी की। आवश्यक सामग्री, दो घोड़े और दो सेवकों को लेकर रतनचन्द कंचनपुर से चल पड़े। कुछ दूर चलके उन्होंने सेवकों से कहा कि मुझको इस नजदीक के गाँव में कुछ काम है, सो मैं गाँव में से होता हुआ दूसरे रास्ते से खेटपुर पहुंचूँगा। तुम दोनों सड़क पर से सीधे चले जाओ, और खेटपुर के बाहर जो पक्की सराय है, वहाँ ठहरना। मैं तुम से वहीं मिलूँगा। इतना कहकर रतनचन्द एक पगडण्डी पर से चल दिया। सेवक लोग सड़क पकड़े हुए चले गये।

पन्द्रहवाँ पर्व

"जागो! जागोरे! बटोही यहां चोरनि को डर है।"

सेठ रतनचन्दजी के चले जाने के कारण आज उनकी श्रीमती रामकुँवरि जी अकेली हैं। आपने भोजन के समय हीरालाल से कहा; देखो जी! इतनी बड़ी हवेली में मैं अकेली रहने वाली नहीं हूँ। यहाँ जब दिन में ही डर लगता है, तब भला तुम ही कहो, रात को मेरी क्या गति होगी? मैं जरूर मर जाऊँगी। सो यदि तुम्हें मेरे प्राण बचाना अभीष्ट हो तो यहीं आकर सोना। रामकुँवरि का यह प्रस्ताव

हीरालाल को बिना कुछ हीले के उसी समय स्वीकार करना पड़ा।

प्रतिज्ञानुसार रात के दस बजने पर हीरालाल दूकान से आया और ऊपर के एक सजे सजाये कमरे में जहाँ कि रतनचन्दजी सोया करते थे, जाके एक पलंग पर लेट गया। इस पलंग पर से दो तीन गज के अन्तर पर एक और मसहरीदार पलंग बिछा हुआ था, उस पर रामकुँवरी लेटी थी। सामने कमरे के बीचों-बीच एक सुन्दर शमादान जल रहा था, उसके प्रकाश से कमरे के शृंगार की सम्पूर्ण चीजें हँसती हुई मालूम पड़ती थीं। कमरे की चारों ओर की खिड़कियाँ खुली हुई थीं। उनमें से हवा के मीठे-मीठे झोंके आके शरीर से लग कर गुद-गुदी पैदा कर रहे थे।

हीरालाल और रामकुँवरि दोनों की चढ़ती जवानी है दोनों के शरीर में उन्मत्तता की लालिमा रोम-रोम से फूट रही है, और दोनों ही संसार के अत्यन्त दुःखित परिपाक फल के स्वाद से अपरिचित हैं। अतएव नहीं कह सकते कि आज इन दोनों का सन्निकट शयन दोनों के लिये कैसा सुखकर तथा दुःखकर है। कंचनपुर नगर के निवासी इस समय सुख की नींद सो रहे हैं। वे इस बात से बिल्कुल बेसुध हैं कि हमारे नगर के एक एकांत कमरे में संसार-पथ के ये मुग्ध पथिक एक भयानक डाकू की नजर के नीचे आ गये हैं। न जाने आज उनके परमधन की रक्षा होती है कि नहीं इस समय लज्जा और लोकमर्यादा ये दोनों पूज्य देवी उन दोनों की रक्षा में सन्मुख उपस्थित हैं परन्तु कौन कह सकता है कि मूर्ख पथिकों को वह प्रबल पराक्रांत डाकू अछूते छोड़ देगा ? लज्जा और लोकमर्यादा क्या मदनसिंह डाकू के बाण के आगे ठहर सकेगी ? नहीं कदापि नहीं। आज मदनसिंह बड़े प्रबल हैं, यौवन, संपत्ति और अविवेकादि बड़े योद्धा उनके सहायक हैं। हाय ! बेचारे पान्थ अवश्य लुट जावेंगे। रतनचन्दजी की हवेली के सामने से चले जाते हुए एक पुरबिये ने इसी समय एक कवित्त पढ़ा—

"जागो ! जागोरे बटोही ! यहां चोरनि को डर है ।"

परन्तु खेद है कि उन्मत्त पथिकों ने कवित्त के उक्त अन्तिम चरण पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । वह परम शिक्षाजनक पद कंचनपुर के ऊंचे-ऊंचे मकानों की दीवालों से टकरा कर वायुमंडल में विलीन हो गया ।

हीरालाल के आने के बाद प्रायः एक घण्टे तक कमरे में सन्नाटा खिंचा रहा, मानों पड़ते ही दोनों को घोर निद्रा ने दबा लिया । परन्तु यथार्थ में उन दोनों के दिलों में बड़ी उछल कूद मच रही थी, केवल बाहरी मौनावलम्बन था । लज्जा और मदन का द्वन्द-युद्ध बहुत समय तक चला । आखिर देखते ही देखते लज्जा की पक्ष के विवेक, विचार, सन्तोष आदि योद्धा पुष्पाहार (काम) के तीक्ष्ण बाण से घायल होकर धराशायी हो गये । और लज्जादेवी पलायोन्मुख हुई । हीरालाल ने लड़खड़ाती हुई जीभ से कहा—चाची ! जागती हो कि सोती ?

रामकुँवरि—हत्यारी नींद ने अभी कहाँ खबर ली है । क्यों ! कुछ काम हो तो उठूँ ।

हीरालाल—हाँ ! मुझे इस समय खूब प्यास लग रही है । दया कर के थोड़ा सा शीतल जल पिलादो, तो हृदय शीतल हो जावे ।

रामकुँवरि—अजी, इसमें दया की कौनसी बात है, मैं अभी लाई (इतना कहकर रामकुँवरि पलंग पर से उठी और एक सुन्दर गिलास में जल भर के लाई और बोली) लो पियो, मैं कैसा प्यारा ठंडा जल लाई हूँ ।

हीरा०—बड़ी दया की । (पानी पीकर) आज न जाने मुझे क्यों नींद नहीं आती ।

राम०—और यही हाल मेरा है, जब से पड़ी हूँ करवट बदल रही हूँ ।

हीरा०—तो फिर थोड़ी देर के लिये यहीं बैठ जाओ । कुछ बातचीत करके ही रात काटें ।

राम०—क्या हर्ज है ? (ऐसा कहके हीरालाल के पलंग के पास ही एक कुर्सी पर बैठ गई, और किंचित् मुस्कुरा के बोली) तुम पीहर से अपनी बहू को क्यों नहीं लिवा लाते ! बहुत दिन हो गये, बेचारी तरसती होगी और इधर तुम भी तकलीफ उठाते हो ।

हीरा०—क्या करूँ ! काकाजी से लाचार हैं, उन्हें इस बात का कुछ ख्याल ही नहीं ।

राम०—अजी ! उनकी कुछ मत कहो, वे तो अपनी माफिक सबको ही मिट्टी के समझते हैं। जरा कभी छेड़छाड़ की कि ज्ञान सुझाने बैठ जाया करते हैं। यह नहीं सोचते कि नई उमर भी कोई चीज है ?

हीरा०—(अंगड़ाई लेके) अजी। और नई उमर भी कैसी ? जिसने दुनियादारी का कुछ भी नहीं देखा। दिल के हौसले दिल में ही मार के रह जाना पड़ता है ।

राम०—परन्तु हौसले दबाने से दब नहीं सकते, जान पड़ता है, आज तुम इसी उधेड़बुन में लगे होंगे, इसी से नींद नहीं आई ।

हीरा०—अजी ! कुछ मत पूछो, आज बड़ी तकलीफ है, न मालूम जी कहाँ-कहाँ जाता है !

राम०—(जम्हाई लेके) जाता कहाँ होगा, बहुत दूर तो ससुराल तक ।

हीरा०—और क्योंजी ! आपका !

रामकुँ०—(धीमे स्वर से शरमा के) बस ! अपने सरीखा मेरा भी समझो। हम तुम दोनों एक ही रोग से पीड़ित हैं ।

हीरा०—यह रोग की खूब सुनाई ! भला अब इस रोग की चिकित्सा करने की भी इच्छा है या नहीं !

रामकुँ०—(आँखें नीची करके) सो तो तुम ही जानो ।

विचारशील पाठक ! इसके आगे क्या हुआ, सो कहलाने की जरूरत नही है। जो सोचा था, वही हुआ। बेचारे अपक्व बुद्धि के पथिक प्रेम का प्याला पीके ज्यों ही आपको भूले कि उस चाण्डाल काम ने

उन्हें लूट डाला। वे क्षण भर में शील संयमादि रत्नों को खोकर राजा से रंक हो गये। दोनों के मुख पर कालिख फिर गई।

यह देख कमरे में जो शमादान जल रहा था, वह एक हवा के झोके से गुल हो गया। उसने अपने प्रकाश में यह अन्धकार होना उचित नहीं समझा। कमरे की खिड़कियाँ भी फटफटाने लगीं। यदि उनका वश होता तो शायद वे भी यह दुष्कृत्य देखने को वहाँ न लगी रहतीं। इतने में कमरे के पश्चिम की ओर एक बड़ा भयानक शब्द हुआ, जिसे सुनके हीरालाल और रामकुँवरि दोनों चौंक पड़े। घबड़ा के ज्यों ही उन्होंने देखा कि सामने एक विकटाकार मूर्ति को देखा। उसका सारा शरीर एक काले कम्बल से ढका हुआ था, और हाथ में एक तीक्ष्ण धार वाली तलवार थी। इस भयानक पुरुष को देखते ही दोनों एक बड़ी चीख मार के बेहोश हो गये।

मूर्ख पथिकों! तुमने विना विचारे ऐसे स्थान में डेरा किया, जहाँ एक क्षण भर भी कुशलता से नहीं बीत सकता था। हाय! तुम लूट लिये गये। अब तुम अपने खोये हुए शीलरत्न को संसार का समस्त द्रव्य न्योछावर करके भी नहीं पा सकते। अब संसार में तुम्हारा जीवन केवल भार रूप है। एक कवि कहता है।

"आपकी रति छाय रही जग में,
तो वृथा दिन चार जिये न जिये।"

सोलहवाँ पर्व

कंचनपुर से पाँच छः कोस पश्चिम की ओर खेटपुर एक अच्छा कस्बा है। वहाँ सेठ रतनचन्दजी के एक परम-मित्र रहते हैं; जिनका नाम सेठ धनपालजी है। धनपालजी बड़े सौम्य और दूरदर्शी पुरुष हैं। रतनचन्दजी को वे बहुत मानते हैं, और हृदय में प्रीति भी रखते हैं। दोनों का बहुत बड़ा घरोबा है। इसलिये दोनों के कार्य दोनों की सम्मति से हुआ करते हैं।

आज रतनचन्दजी उक्त सेठजी से मिलने को चले थे, और यह विचार किया था कि उन्हें लौटते समय साथ में लेता आऊँगा। जब से उन्हें रामकुंवरि के चालचलन पर शक हुआ था, और जब से जयदेव को व्यर्थ कलंक लगाने का रामकुंवरि की ओर से प्रपंच रचा गया था, तब से रतनचन्दजी का चित्त ठिकाने नहीं रहता था, उसे गृहस्थाश्रम से बहुत कुछ विरक्तता आ गई थी और इसलिये तत्सम्बन्धी विचार करने के लिये वह अपने मित्र से मिलना चाहता था, परन्तु कार्याधिकता से अब तक उसकी वह इच्छा पूर्ण नहीं हुई थी। आज सबेरे जब जयदेव ने उससे विदा मांगने का प्रस्ताव किया तब उसे मित्र से मिलने का विचार सहसा करना पड़ा। क्योंकि जयदेव के चले जाने पर दुकान का कार्य कैसे चलेगा, यह उसे बड़ी भारी चिन्ता चढ़ गई। हीरालाल में इतनी योग्यता और गुरुता नहीं थी कि वह दुकान चला सके। परन्तु कंचनपुर निकलते ही एक दो अपशकुन ऐसे हुए कि उनके फलों के विचार में रतनचन्द का हृदय धड़कने लगा। उसका साहस नहीं हुआ कि आज कंचनपुर छोड़ के अन्यत्र जाऊँ। परन्तु घर से निकल पड़ा था, इसलिये ज्यों का त्यों लौटना योग्य नहीं समझा और तब नौकरों को खेटपुर की धर्मशाला में ठहरने की आज्ञा देकर एक पगडंडी से चल पड़ा, इसके पहले पर्व में पाठक यह बात जान चुके हैं।

यह पगडंडी वायव्य की ओर जो एक छोटा-सा ग्राम था, वहां को गई थी। रतनचन्द वहीं को चल पड़ा, और ग्राम के बाहर एक अमराई की सघन और शीतल छाया देखकर ठहर गया। एक झाड़ से घोड़े को बांध दिया और आप एक कम्बल बिछा के पास ही एक झाड़ की छाया में बैठ गया। यह स्थान कंचनपुर के केवल २ कोस के फासले पर था।

गृहजंजाल में फंसे हुए जीव को एकान्त मिलने से आनन्द की जगह निरानन्द का अनुभव होता है। जहाँ योगियों को शान्ति मिलती है, वहीं गृह-जंजालियों पर अशांति का पहाड़ टूट पड़ता है। जहां योगी

आत्म-स्वरूप का अनुभव करते हुए अनन्त कर्मों की निर्जरा करते हैं, वहीं परिग्रह पिशाच के पंजे में फंसे हुए प्राणी जड़रूप संसार को भयानक रूप धारण किये हुए देखते हैं। और जहाँ उन्हें सर्वथा निराकुलता प्राप्त होती है, वहीं संसारी जीवों को तमाम चिन्तायें एक दम आ दबाती हैं। रतनचन्द की उस एकांत आराम में यही दशा हुई। अपने कलंकी संसार की नाना विचार तरंगों में वह डूबने उछलने लगा। वैराग्य भावनाओं से सहारा लेकर उसने बहुत चाहा कि इन तरंग मालाओं से पार हो जाऊँ, परंतु कुछ फल नहीं हुआ। धीरे-धीरे संध्या हो गई। प्रभाकर महाराज आँखें मिलाते-मिलाते मुंह ढकने की ताक में लगे। प्रतीचीदेवी उनकी यह दशा देख धीरे-धीरे विकट रूप धारण करके कोप परिस्फुटित लाल-लाल आँखें दिखाने लगी। परन्तु इस ललाई का फल कुछ भी नहीं हुआ वे धृष्ट नायक बनके चल ही दिये

उनके जाने की देर थी कि अन्धकार महाशय भूमि, वृक्ष, लता, पत्रादिकों पर क्रम से काले परदे पड़ गये। ऐसा जान पड़ने लगा, मानो यामिनी कामनी को वैधव्य दीक्षा देने के लिये काली साड़ी पहिनाई गई है। इस समय रतनचन्द सेठ को बड़ा वैराग्य उत्पन्न हुआ। उनके देखते-देखते जिस संसार में प्रकाश ही प्रकाश था, अन्धकार ही अन्धकार दीखने लगा। यद्यपि ये प्राकृतिक घटनायें प्रतिदिन हुआ करती हैं, और देखने में भी प्रतिदिन ही आती हैं, परन्तु आज रतनचन्द के खिन्न हृदय पर उन्होंने बहुत असर किया। उस अन्धकार पूर्ण रात्रि में उसके मुख से अचानक निकल पड़ा कि "नहीं! अब इस अपार संसार में रहने की आवश्यकता नहीं है। कल ही इसका निबटारा कर डालना चाहिये"। इस वाक्य के निकलते ही तारागणों के ब्याज से गगन-मण्डल ने हँस दिया। उसके सामने जो एक बादल का काला टुकड़ा पड़ा था, वह उसी समय अलग हो गया। रतनचन्द जी की बुद्धि का परदा भी हम समझते हैं, इसी समय अलग हट गया।

यद्यपि रतनचन्द को घर जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, और वह जाना भी नहीं चाहता था, परन्तु शल्य का एक छोटा सा कांटा

उसके हृदय में ऐसा चुभ रहा था कि उसके निकले बिना उसकी वृत्ति में निश्चलता नहीं आ सकती थी। वह कांटा वही था कि रामकुंवरि को वह दुराचारिणी जानता था, परन्तु अपनी आंख से उसने उसमें कोई भी दुश्चरित्र का लक्षण नहीं देखा था। और यथार्थ में रामकुंवरि थी भी ऐसी ही चालाक कि उसकी मुख चेष्टा से उसके चारित्र का अनुमान रतनचन्द सरीखे सरल पुरुष के द्वारा होना कठिन था। अतएव आज रतनचंद ने अपनी उस शल्य को स्वयं जाकर निकाल डालना उचित समझा। क्योंकि बुद्धिमान जो कोई कार्य करते हैं, वह भली भांति विचार पूर्वक ही करते हैं।

घोड़े को उसी अमराई में छोड़कर रतनचंद कंचनपुर की ओर चल पड़ा। लोगों की नजरों से बचने के लिये उसने अपना शरीर कम्बल से ढक लिया था और शरीर रक्षा के लिए एक तलवार भी उसी में छिपा ली थी। मुख्य मार्ग को छोड़कर घूमते फिरते हुए चलने में बहुत बिलम्ब हो गया। अत: अनुमान ११ बजे बड़ी कठिनता से अपनी हवेली के निकट पहुँचा। नगर भर घोर निद्रा में तल्लीन था। केवल दो चार पुरुषों के आने जाने की आहट राजमार्ग पर सुनाई पड़ती थी। अथवा कभी-कभी अपरिचित शब्द सुनकर कूचों में भोंकते हुए कुत्तों की आवाज सुनाई पड़ती थी, शेष सर्व प्रकार से शांति थी।

हवेली के पश्चिम में जो गली थी, वहाँ जाकर रतनचंद ने देखा, तो उसके खास कमरे की खिड़कियों में से रोशनी आ रही थी, किसी की बातचीत की आहट मिलती थी। इसलिये वह वहीं ठिठक के खड़ा हो गया। और ध्यान लगाके सुनने लगा, नगर भर में उस समय बिलकुल शांति थी। इसलिये उस समय वह बातचीत यद्यपि बहुत धीमे-धीमे स्वरों में होती थी, परन्तु रतनचंद को इतना अनुमान कराने के लिये बस थी, एक पुरुष और एक स्त्री का वह वार्तालाप है। रतनचंद के चित्त में उसे सुनकर बड़ी व्यथा होने लगी।

उस गली में हवेली पर चढ़ने के लिये पहले एक जीना था, परन्तु

इधर कुछ दिनों से अनावश्यक समझ कर उसका द्वार एक ताला डाल के बन्द कर दिया था। दैवयोग से रतनचंद के पास इस समय चाबियों के गुच्छे में उसकी चाबी निकल आई, अतः शीघ्र ही उसके द्वारा ताला खोल के वह जीने पर चढ़ गया। परन्तु ऊपर किवाड़ बन्द थे। जाके देखा तो दरवाजा बन्द था। किवाड़ों के सन्धों में से भीतर कमरे का कुछ-कुछ प्रकाश आ रहा था। रतनचंद ने रन्ध्रों में आँख लगा के कमरे के भीतर जो कुछ देखा, उससे वह एकदम अवाक् हो गया। जिसका स्वप्न में भी विचार नहीं किया जा सकता था, उस पाशव कर्म को देखकर उसका हृदय शून्य हो गया, चेतना जाती रही। क्षण भर के लिये धरती पर बैठ गया। पश्चात् थोड़ी देर में चेतना लाभ होते ही उसका क्रोध यकायक उबल उठा, बड़े जोर से बोला— "भगवती पृथ्वी ! ऐसे अधर्मी पशुओं का भार भी तू सम्हालती है ? धक्कार है तुझे।" और जोर से किवाड़ों में लात मारी कि किवाड़ फट के अलग हो गये। पापी उसके शब्द से चौंक पड़े और सामने काले कम्बल से ढकी हुई इसी विकटाकार मूर्ति को देखकर चीख मार के बेहोश हो गये।

नृकीटों ! पापियों ! तुम जानते हो कि हमारे पापों का देखने वाला कोई नहीं है, इसलिये इच्छित पाप करने के लिये उतारू हो जाते हो। मदोन्मत्त होकर लोकमर्यादा, विवेक, शीलादि सबको तिलांजलि देकर स्वतंत्रता से विचरते और अपने स्वरूप को भूल जाते हो। परन्तु स्मरण रक्खो, तुम्हारे कर्म तुमसे एक क्षणभर भी पृथक् नहीं रहते, वे बड़े कठिन प्राहरिक हैं। तुम्हारी प्रत्येक कृति का फल तुम्हें मिलेगा। हाय ! हाय ! थोड़े से विषय सुख के लिये तुम्हें घोर नरक में असह्य दुःख झेलने पड़ेंगे। सचेत रहो।

———

सत्रहवाँ पर्व

बड़ी भयानक रात है। अंधेरे के मारे कुछ भी नजर नहीं आता। बादल केवल उमड़े हुए हैं, परन्तु उदार पुरुषों की नाईं बरस रहे हैं। परन्तु लोग संसार की अस्थिरता नहीं देखते, गहरी नींद में सो रहे हैं। थोड़े-थोड़े जल का आश्रय पाकर मेंढकगण पौराणिक पंडितों की तरह अपनी टरंटरं में मस्त हैं। शीतल समीर बारीक-बारीक जल-कणों के सहित इतस्ततः भ्रमण कर रहा है, परन्तु विलासपुर की रमणीय बस्ती में उसे कोई ठहरने को जगह नहीं देता। उसका आगमन होते ही लोग अपने-अपने घरों के द्वार झरोखे बन्द कर देते हैं। वह उनसे टकरा कर जब खिन्न हो जाता है तब फिर आगे चलता है।

इस समय विलासपुर के जेलखाने में जो कि शहर से पूर्व की ओर है, हम अपने पाठकों को ले चलते हैं। एक कोठरी में उदयसिंह और बलवन्तसिंह हथकड़ी और बेड़ियों से विवश पड़े हुए हैं। उदयसिंह के चेहरे पर मुर्दनी छाई हुई है। लम्बी-लम्बी आहें खींचने और आँखों से आंसुओं की धारा बहने के अतिरिक्त वह सर्वथा निश्चेष्ट हैं। बलवन्तसिंह अपने मित्र की इस दशा के विचार में अन्यमनस्क हुआ कुछ विचार कर रहा है। अफसोस ! राजकुमार की दशा बड़ी शोचनीय है। सुशीला की मुहब्बत ने बरबाद कर दिया, तो भी वे सुशीला और उसकी मोहब्बत छोड़ना नहीं चाहते। हजार समझाने पर भी इनके हृदय पर कुछ असर नहीं होता। क्या करूं, महाराज साहब जब यह बात सुनेंगे, तो क्या कहेंगे ? मेरे साथ होते हुए भी विपत्ति से रक्षा नहीं हो सकी। रेवती भी कैसी चालक लौंडी है। कौन जानता था कि उसके सुडोल और सीधे शरीर के भीतर ऐसी बेडौल और टेढी चालाकी निकलेगी। खूब फंसाया। हमारे हुजूर जब तक यहाँ जेल-खाने की हवा खावेंगे, तब तक वहाँ उनकी सुशीला किसी भाग्यशाली के हृदय का हार बन जावेगी। सुनते हैं, दो ही चार दिन में सुशीला

का स्वयंवर होने वाला है। चलो छुट्टी हुई, तब तो उदयसिंह हत्यारी मुहब्बत को छोड़ेंगे। अच्छा हुआ जो इनके कानों तक यह स्वयंवर की भनक नहीं पड़ी, नहीं तो अभी न जाने क्या गजब मचाते। परन्तु नहीं, ये इसी में मर जावेंगे। मुहब्बत बहुत बुरी बला है, अब भी मुझे प्रयत्न करने से न चूकना चाहिये। यदि इस जेलखाने से छुट्टी हो जावे, तो हम लोग अब भी बहुत कुछ कर सकते हैं, और अपने अभीष्ट की सिद्धि को पा सकते हैं। इस प्रकार विचार जाल में उलझे हुए बलवन्तसिंह को दरवाजे के बाहर कुछ आहट मिली। वह धीरे-धीरे द्वार पर आया, और दालान में टहलते हुए एक पहरेदार को देख के बोला, क्यों भाई! इस समय भी क्या तुम पहरा दे रहे हो? यह रात तुम इसी तरह निकाल दोगे और विश्राम नहीं करोगे?

पहरेदार—नहीं, हम लोगों की यही नौकरी है। नौकरी में आराम नहीं है। मेहनत से जी चुराकर आराम करना आराम नहीं हराम है। थोड़े से आराम के लिये अपना ईमान नहीं बिगाड़ना चाहिये। बेईमान के दोनों लोक बिगड़ते हैं।

बलवन्तसिंह—तब तो तुम बड़े ईमानदार और द्यानतदार नौकर मालूम होते हो। पर भाई? हमने सुना है तुम्हारा राजा कदरदां नहीं है यदि तुम हमारे महाराज के नौकर होते तो अभी तक एक अच्छे ओहदे पर पहुँच जाते। क्या कहूँ, इस समय मैं विवश हूँ, नहीं तो तुम्हें बतला देता कि हमारी सरकार कैसी गुणज्ञ और दयावान है।

पहरेदार—भाई! "गई बहुत और रही थोड़ी" अब साल छह महीने के लिए क्या जरूरत कि गैरों के द्वारों पर टकराता फिरूँ। हमारी सरकार में गुणज्ञता, उदारता और दया की कमी नहीं है। जिसने तुमसे हमारे राज के विषय में कुछ कहा है, उसने गलती की है! वह कोई नमक हराम होगा। यथार्थ में इसमें महाराज का दोष नहीं है। मेरे पूर्व जन्म की कमाई ही इतनी थी कि बुढ़ापे तक पाँच

रुपये से छह नहीं हुए। और अब तो होवेंगे ही क्यों ? मेरे भाग्य में नहीं है, तब आपके महाराज भी मेरे लिए अनुदार बन जावेंगे।

वलवन्तसिंह–नहीं ! ऐसा नहीं है। भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले कुछ नहीं कर सकते। भाग्यवादी बड़ी भूल करते हैं। पुरुषार्थ से सब कुछ हो सकता है। और पुरुषार्थ करना हम लोगों का परम धर्म है। भाग्य कोई चीज नहीं है।

पहरेदार--अच्छा, भाग्य कोई चीज नहीं है तो इतने बड़े महाराज के वीर पुत्र होके ये तुम्हारे मालिक क्यों भाग्य को रो रहे हैं, और तुम भी तो बड़े पुरुषार्थी हो, भला निकलो तो इस कोठरी में से ? देखें।

बलवन्त—तो क्या हमारे यहाँ से निकल जाने में तुमको शंका है ? तुम्हारे देखते हुए हम यहाँ से पुरुषार्थ से निकल जावेंगे और उसमें तुम्हीं से हमको सहायता भी मिलेगी। (उदयसिंह की ओर उँगली करके) देखो ! भाग्यवादियों की यह दशा होती है। ये तुम्हारे ही जोड़ीदार हैं, हजरत मुहब्बत तो लगाने चले परी से और सूंघ रहे हैं जमीन !

पहरेदार—(सचिन्त होके) तुमने यह क्या कहा कि तुमसे मदद मिलेगी ? क्या तुम मुझसे कुछ ऐसी आशा रखते हो ?

बलवन्त हां, क्यों नहीं ! संसार के सब ही कार्य एक दूसरे की सहायता से चलते हैं। सच कहते हैं, यदि तुम मुझे थोड़ी देर के लिए यहाँ से छुटकारा दे दो, तो कल ही अपने महाराज के राज्य में तुम्हें किसी अच्छे ओहदे पर बैठा दूं। और लो हम लोगों के शरीर पर इस समय जो कुछ है सब तुम्हारा है।

पहरेदार—छि: ! इसी को पुरुषार्थ कहते हैं ! यदि धोकेबाजी, बेईमानी, फरेब और रिश्वत देने को ही पुरुषार्थ कहते हैं, तो धिक्कार है, उस पुरुषार्थ को ? तुम नीच बातें करके अपने नामी राजा के नाम पर और अपने क्षात्र धर्म को बट्टा लगाते हो, लानत है, तुम पर ? यदि तुम्हारा राजा तुम सरीखे पुरुषों की बात पर विश्वास करता है,

तो समझना चाहिये कि, वह कोई अच्छा राजा नहीं होगा। जिस राज्य में योग्यायोग्य की पहचान नहीं है, वह राज्य बड़े अन्धकार में ग्रस्त है और उसकी जड़ बहुत कच्ची है। राजा दूसरे देव के तुल्य है, उसके साथ विश्वासघात करने से हम लोगों का कदापि कल्याण नहीं हो सकता। जाओ! अब मैं तुमसे बातचीत नहीं करना चाहता, तुम सरीखे एक सरदार से मेरे सरीखे एक सिपाही को इतनी घृणा उत्पन्न हो जाना बड़े दुःख की बात है।

बलवन्तसिंह का मुंह बन्द हो गया। उस निष्कपट, विश्वस्त सिपाही के सन्मुख उसे एक शब्द कहने का भी साहस नहीं हुआ। वह धीरे-धीरे खिसक के अपने स्थान पर आ बैठा। सिपाही दूसरी ओर को टहलने लगा।

अनुमान आधे घण्टे के सन्नाटे के बाद द्वार पर फिर किसी की आहट हुई। बलवन्तसिंह कान लगाके सुनने लगा। आवाज से जान पड़ा कि वही पहरेदार है, जिससे बातचीत हुई थी। निकट जाके पूछा-क्यों क्या कहते हो? बोला क्या किया जावे? पेट बड़ी बुरी बला है, तुम्हारा मंत्र मुझ पर चल गया। और सचमुच तुम्हारा पुरुषार्थ काम का है, भाग्य कोई चीज नहीं है। लाओ, तुम अपने शरीर पर का जेवर निकाल के मुझे दो, मैं तुम्हें अभी यहाँ से निकाले देता हूँ। परन्तु स्मरण रखना, तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी।

यह सुनते ही बलवन्त के मुँह में पानी आ गया, वह आनन्द के मारे उछल पड़ा, और बोला–विश्वास रखो! हम अपनी प्रतिज्ञा अवश्य ही पूरी करेंगे और तुम्हें निहाल कर देंगे। लो, हम लोगों की हथकड़ी बेड़ी काट दो, और यह जेवर उतार लो। यहाँ से भागकर तुम हमारे राज्य में चलो, वहाँ तुम्हें कोई भय नहीं है। यह सुनके पहरेदार ने धीरे से द्वार खोल दिया और भीतर आके दोनों की हथकड़ी बेड़ी काट दी। शरीर पर का जेवर ले लिया, पश्चात् कहा—लो शीघ्रता से भागो, यदि किसी को मालूम हो जावेगा तो जानपर आ बनेगी। आखिर तीनों ने सिरपर पैर रख के भागना शुरू किया।

परन्तु १ मील ही न भागे थे कि पीछे से किसी की आवाज आई, खबरदार ! कायरों ! मैं आ पहुँचा तुम तीनों जवान हो, मुझ बूढ़े की तलवार का जरा मजा भी चखे जाओ, नहीं तो पीछे शेखियां मारोगे। यह सुनते ही तीनों के पैर जहाँ के तहाँ जम गये, शरीर शून्य हो गया। आने वाला तीनों के आगे भीम मूर्ति धारण करके आ खड़ा हुआ। पहरेदार सिपाही के पैर थर-थर कांपने लगे। चाहा कि भाग जाऊं, परन्तु ऐसा कर नहीं सका। आने वाले का पहिला हाथ उसी पर पड़ा जिससे उसकी बांह कटके अलग गिर पड़ी, गहरे घाव की बेदना से वह गिरके मूर्छित हो गया। खून की धारा बहने लगी।

बलवन्तसिंह और उदयसिंह दोनों के पास इस समय हथियार नहीं थे। मददगार सिपाही को बात की बात में गिरते देखके और अपने पर आई हुई विपत्ति को सन्मुख देखके दोनों झपटे और चाहा कि तलवार बचा के इसे बाहुपाश में बांध लेवें, परन्तु वह भी असावधान नहीं था, उछल के वह अलग हो गया, और दाव बचाके एक हाथ ऐसा मारा कि बलवन्तसिंह के कंधे पर जाके पड़ा। लगते ही वह भी बेहोश हो गया। गिरे हुए सिपाही की तलवार उदयसिंह के हाथ में पड़ गई, इसलिये वह बड़े बल के साथ सम्मुख हुआ, और अनुमान आध घण्टे तक दोनों में खूब युद्ध हुआ।

उदयसिंह ने अपने प्रतिद्वन्दी को बल और शस्त्र-कौशल में सब प्रकार से अजेय देखकर और पूर्व दिशा में ऊषादेवी का आगम जानकर और अधिक समय तक उससे भिड़े रहना उचित नहीं समझा, अतएव वह उससे किसी तरह पीछा छुड़ाने की चिन्ता में लगा। उधर प्रतिद्वन्दी भी घण्टों के परिश्रम के कारण कुछ शिथिल हुआ कि मौका पाकर उदयसिंह ने पीठ फेरदी और पलायन किया ! प्रतिद्वन्दी ने अब उसका पीछा करना उचित नहीं समझा। और उसी स्थान पर बैठ गया।

ऊषा अपने अरुण होठों पर मन्द-मन्द हंसी झलकाती हुई आ

पहुँची और उस वीर पुरुष का अपने किरणरूपी करों से आलिंगन करने को दौड़ी।

प्रभात हो गया, अनेक राज्य कर्मचारी इस घटना की सुधि पाकर दौड़े आये, और मूर्छापन्न बलवन्त और सिपाही को कैद करके ले गये, वीर पुरुष बड़े सत्कार के साथ नगर में लाया गया।

पाठक ! यह वीर पुरुष और कोई नहीं, वही राजभक्त पहरेदार है, जिसके साथ बलन्तसिंह की पहले बातचीत हुई थी। और वह आदमी जो बलवन्तसिंह को छुड़ाकर भागा था, तथा पीछे जो अपनी एक बांह खो बैठा था, एक दूसरा पहरेदार था। जिस समय बलवन्त और पहले पहरेदार की बातचीत हो रही थी, दूसरा छुपे हुए दोनों की बातचीत सुन रहा था। बलवन्तसिंह के दिये हुए लालच से वह अपनी ईमानदारी खो बैठा, और यह राजद्रोह करने को उद्यत हो गया।

यह पहले पहरेदार की बदली पर आया था। क्योंकि ३ बजे रात्रि के पश्चात् प्रतिदिन इसीका पहरा रहता था। पहले पहरेदार के चले जाने पर इसने अपनी घात लगाई और बलवन्तसिंह से छुड़ा देने की बातचीत कही। उसकी बनावटी बोली और धूर्तता को बलवन्तसिंह नहीं समझ सका। उसने यही जाना कि यह वही पहरेदार है, जिससे पहले बातचीत हुई थी। मेरा दिखाया हुआ लालच इस पर असर कर गया है। पहले का नाम वीरसिंह और दूसरे पहरेदार का नाम अजानसिंह था।

वीरसिंह अपनी नौकरी पूरी करके घर गया, परन्तु उसे निद्रा नहीं आई। उसके हृदय में बलवन्तसिंह की धूर्तता का बड़ा खटका बैठ गया था, और उसका असर इस कारण और भी अधिक हुआ कि अजानसिंह का स्वभाव लालची बहुत था, वह इस बात को जानता था कि यदि बलवन्तसिंह उस मंत्र का प्रयोग जो कि मुझपर निरर्थक हुआ है, अजान पर करेगा तो सचमुच वह अकार्य कर बैठेगा।

जब उसे किसी प्रकार निद्रा नहीं आई, और पूर्व सन्देह बढ़ता ही

गया, तब तो वह एक हथियार लेकर कारागृह की ओर फिर चला। वहाँ जाके देखा तो जिस कोठरी में उक्त कैदी थे, उसे खुली हुई और खाली पाई। और कैदियों के भागने की आहट कुछ दूर पर पाई, इस-पर तत्काल ही उनकी ओर शक्तिभर दौड़ा। और इसके पश्चात् जो कुछ हुआ, वह कहा जा चुका है।

अठारहवाँ पर्व।

अनुमान ७ बजे महाराज विक्रमसिंह के दरबार में दोनों कैदी और वीरसिंह उपस्थित किये गये। कैदियों के घावों पर मलहम पट्टियाँ लगा दी गई थीं, और इससे उनका शरीर बहुत स्वस्थ था। इसी प्रकार वीरसिंह के भी जो दो चार घाव लगे थे, उनका इलाज करा दिया गया था। इस समय वह अत्यन्त प्रसन्नचित्त दिखाई देता था।

आज्ञा पाकर वीरसिंह ने अपनी बीती घटना का हाल महाराज से निवेदन किया, जिसे सुनकर महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। वृद्ध वीरसिंह की वीरता और ईमानदारी सुनके समस्त दरबार में एक अतिशय उल्लास प्रगट होने लगा। बलवन्तसिंह ने स्वयं उठकर कहा—

महाराज! यद्यपि मैं इस समय आपका कैदी हूँ, और पुनः इस कैद में पड़ने का कारण वीरसिंह होने से वह मेरा शत्रु है, परन्तु शत्रोरपि गुणाः वाच्याः अर्थात् शत्रु के भी गुण वर्णनीय होते हैं, इस नीति से मैं वीरसिंह की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। आप धन्य हैं, जिनके यहां ऐसे सच्चे, वीर, धार्मिक और राजभक्त सेवक हैं। ऐसे क्षत्री पुत्रों के कारण ही यह पृथ्वी भाग्यशालिनी है।

वीरसिंह को अपने वश में लाने के लिये मैंने हजार प्रयत्न किये, और बातें बनाई, परन्तु वे सब निष्फल हुईं। वीरसिंह का सुदृढ़ मानस तनिक भी चलविचल नहीं हुआ, उल्टी मुझे ही वह फटकार

सुननी पड़ी, जिसका घाव मेरे हृदय पर अभी तक है। मैं महाराज से प्रार्थना करता हूँ कि वीरसिंह सरीखे वीर को कोई अच्छा वीरोचित पद दिया जावे। और इस नीचातिनीच अजानसिंह को कोई ऐसा दण्ड दिया जावे जिसे संसार को फिर कभी ऐसा विश्वासघात करने का साहस न होवे। ऐसे पुरुषों के प्रसाद से ही बड़े-बड़े राज्य नष्ट हो जाते हैं।

संसार में राजद्रोह सरीखा कोई पाप नहीं है। थोड़े से धन के लोभ में पड़कर जो राज्य कर्मचारी इस तरह राज्य का अपकार करने को तैयार हो जाते हैं, वे बड़े कृतघ्न हैं।

महाराज विक्रमसिंह यह सुनके कुछेक मुस्कराये और बोले—आपकी सम्मति माननीय है, जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही होगा। परन्तु यह तो कहिये कि वीरसिंह की फटकार से भी आप अजान के अनुगामी क्यों बने ? और इसका दण्ड आपको क्या दिया जावे ?

बलन्त—अवश्य ही वीरसिंह की शिक्षा का मुझ पर असर हुआ है, परन्तु अपने मालिक की ओर देखके सहसा मुझे अजान का साथी अजान बनना पड़ा था, जिसके लिये कि मुझे इस समय बड़ी घृणा हो रही है। उस विषय में मैं आपका पूर्णतः अपराधी हूँ, आप जो चाहें दण्ड दें, मैं सहने को तैयार हूँ।

महाराज—अस्तु ! आप अपने अपराध के बदले में छोड़ दिये जाते हैं। आप जहाँ चाहें, वहाँ स्वतंत्रता से जा सकते हैं, यही आपके लिये दण्ड है।

बलवन्त–(गद्गद् और नतमस्तक होके) धन्यवाद है ! सहस्र धन्यवाद है ! परन्तु महाराज ! मेरे साथ इतना उपकार और करें कि मैं सेवक बना लिया जाऊँ। मैं आप सरीखे नरनाथ की सेवा छोड़के अब अन्यत्र नहीं जाना चाहता। मेरे लिये यही स्वतंत्रता है। यही सब कुछ है।

महाराज ने बलवन्तसिंह की प्रार्थना स्वीकार की। बंधनमुक्त होके उन्हें उसी समय दरबार में उनके योग्य स्थान दिया गया, लोग

विस्मित होके महाराज की ओर देखने लगे। वीरसिंह के लिये आज्ञा हुई कि आज से ये नौकरी से विमुक्त किये जावें, और १००) पेंशन मुकर्रर कर दी जावे।

इसके पश्चात् अजानसिंह के दण्ड की बारी आई, परन्तु इसके पहले ही देखा कि उसका शरीर प्राणहीन होके धराशायी हो गया। लोगों ने समझा, मूर्छा आई, परन्तु यथार्थ में वह उसकी अंतिम मूर्छा थी। अपने कार्य किये हुए दुष्कर्म से उसका हृदय वैसे ही विदीर्ण हो रहा था कि महाराज की दया, अपने साथी वीरसिंह की बड़ाई और बलवन्तसिंह की निष्कपटता के तीक्ष्ण दृश्यों ने एक के पीछे एक आकार उसे निर्जीव ही कर डाला। अजानसिंह अपनी अजानता से पश्चाताप की अग्नि में दग्ध हो गये। दरबार के सम्पूर्ण सभ्यों के चित्त पर इस दृश्य का बड़ा असर हुआ। महाराज का चित्त दया से आर्द्र हो गया। दुःखी होकर दरबार बरखास्त करके शीघ्र ही अन्तपुर में चले गये। लोग हर्ष विषाद करते हुए अपने-अपने स्थान पर गये।

———

उन्नीसवाँ पर्व

क्रोध में उन्मत्त हुए रतनचन्द ने बेहोश रामकुंवरि और हीरालाल को पलंग से जकड़ के बांध दिया और चाहा कि होश में लाकर इनकी खूब खबर लूं, परन्तु तत्काल ही उसका वह भीषण क्रोध वैराग्य के शीतल विचार-प्रवाह से शांत हो गया। उसके फड़कते हुए होंठ स्थिर हो गए, नेत्रों की लालिमा का परिवर्तन हो गया। चढ़ी हुई भौंह कमान वक्रता छोड़ के सीधी हो गई और कांपता हुआ सारा शरीर क्षणभर के लिये स्तम्भ रूप में स्थिर हो गया, हृदय में शान्तरस का समुद्र लहरें लेने लगा। सो थोड़ी ही देर में रतनचन्द के मुंह में से निकल पड़ा, "जब असार संसार में रहना ही नहीं है, तो यह

विडम्बना किस लिये करूं ? इन दुष्कर्मों के वश में पड़े हुए दीन जीवों को व्यर्थ ही क्यों कष्ट पहुंचाऊँ ? उन्हें मारने से मुझे क्या लाभ होगा ? और अब वे मेरे हैं ही कौन ? कोई नहीं। पाठक ! ये उस शांतरस के गम्भीर समुद्र की तरल तरंगों का मनोहर नाद था, जो रतनचन्द के हृदय में प्लावित हो रहा था। पापपूर्ण निंद्य संसार में ऐसे सुन्दर शब्द बहुत थोड़े भाग्यवान् सुन सकते हैं।

आगे रतनचन्द का कोमल हृदय रामकुंवरि और हीरालाल को देखकर करुणा से परिप्लवित होने लगा। वह सोचने लगा, हाय ! ये बेचारे दीन प्राणी कर्मों के चक्कर में पड़े हुए कैसे-कैसे अनर्थ करते हैं, और अपने अनन्त शक्ति शाली स्वरूप को भूले हुए हैं। इन्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि हमारा हित क्या है, फिर हितरूप प्रवृत्ति करना तो दूर की बात है।

बेचारों ने बड़े कष्ट से अनन्तकाल भ्रमण करते-करते यह मनुष्य जन्म पाया था, परन्तु इनमें भी ये अपना कल्याण न कर सके, और अब दुष्कर्म में मग्न हो रहे हैं, न जाने ये कब ठिकाने लगेंगे। बेचारे क्या करें, स्वयं कुछ ज्ञान नहीं रखते और सच्चे उपदेशों का साधन नहीं है, इससे मार्ग भूले हुये हैं। जी चाहता है कि कुल उपदेश देकर इन्हें मार्ग में लाने की चेष्टा करूं, परन्तु ऐसा न हो कि उसका इन पर उलटा असर पड़े, क्योंकि "पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते" सो यह भी असाध्य रोगी जान पड़ते हैं, इन्हें मेरा एक-एक शब्द कड़ुआ लगेगा।

अतएव अब इन्हें इनके भाग्य पर छोड़ के अपना कल्याण करना चाहिए। रात्रि थोड़ी ही बाकी रह गई है, और इसके पहले ही मुझे कंचनपुर छोड़ देना है, सो अब शीघ्रता करना चाहिये। ऐसा सोच-कर रतनचन्द अपराधियों को वहीं छोड़कर एक पृथक् कोठरी में गया, जहां लिखने पढ़ने का सामान रक्खा रहता था। वहाँ जाकर उसने तीन चिट्ठियां और एक वसीयतनामा लिखा। पहली दो चिट्ठियां राम-कुंवरि और हीरालाल के नाम की थी। उन्हें उसने दोनों के सिराहने

रखके हवेली को चारों तरफ से बन्द करके ताला लगा दिया, पश्चात् सीढ़ियों से नीचे उतर कर एक ओर चल दिया। इस समय भी उसका वही वेष था जो उसने इस घर में प्रवेश करते समय धारण किया था।

घर से निकल कर रतनचन्द गलियों में से होता हुआ अपनी दूकान पर पहुँचा और जीने से चढ़ के वहाँ गया, जहाँ जयदेव सोता था। यह वही जगह थी, जहाँ उस दिन हीरालाल के हाथों से जयदेव को जान बचायी गई थी। जयदेव भीतर से सांकल दिये हुए गहरी निद्रा ले रहा था उसे खबर नहीं थी कि आज मेरा सच्चा हितैषी अन्तिम विदाई लेने को आया है। कमरे की खिड़की खुली हुई थी, रतनचन्द ने उसी में से वह वसीयतनामा, चिट्ठी और चाबियों का गुच्छा एक रूमाल में लपेट कर भीतर फेंक दिया और बड़ी देर तक जयदेव के उघड़े हुये निष्कलंक मुख को देखकर एक लम्बी साँस लेकर वहाँ से चल दिया।

दिन निकल आने के भय से उसने बड़ी शीघ्रता से उस अमराई की ओर गमन किया, जहाँ घोड़ा छोड़ दिया था। जाकर देखा तो स्वामी भक्त घोड़ा जहां का तहाँ खड़ा है, और अपने स्वामी के आने के मार्ग को देख रहा है। रतनचन्द ने पास पहुँच पुचकार के उसकी पीठ पर हाथ फेरा और फिर सवार होके एक जंगल की ओर उसे दौड़ाया। सवेरा होते-होते रतनचन्द को कंचनपुर से बहुत फासले पर उसने पहुँचा दिया।

रतनचन्द के घर से निकलते ही रामकुवरि और हीरालाल की बेहोशी दूर हुई, तो उन्होंने अपने को बेवशी की हालत में पलंग से जकड़े हुए पाया। चारों तरफ के किवाड़ बन्द थे, भय के मारे कंपकंपी लगने लगी। दोनों एक दूसरे के मुँह की ओर देख के अपनी-अपनी चेष्टा से अपने दुष्कर्म की ओर घृणा और बेबशी पर दुःख प्रकाश करने लगे। परन्तु लज्जा, दुःख और भय के मारे दोनों के मुँह से एक शब्द भी न निकला। इतने में सवेरा हुआ, झरोखों में से सूर्य का प्रकाश आने लगा। समदृष्टि सूर्यदेव पापी और पुण्यात्मा दोनों के

घरों की ओर एक रूप से अपने कर (किरण) फैलाते हैं, इस बात का परिचय उसी दिन मिला। एक ही साथ दोनों पामरों की दृष्टि अपने-अपने सिराने पर पड़ी हुई चिट्ठियों पर गई, दोनों मन ही मन में उन्हें बांचने लगे। चिट्ठियों में लिखा था :—

रामकुंवरि,

तेरा अनन्त उपकार मानना चाहिये, जो तेरे कारण से मुझे आज इस गृह जंजाल से छुट्टी मिली। स्त्रियाँ ऐसी होनी चाहिये, जिनसे उनके पति इस घोर विपत्ति से मुक्त होने के सम्मुख हो जावें। मैं तुझे अपनी आँखों से तृप्त होकर देखे जाता हूँ, सो अब पुनर्दर्शन की लालसा नहीं रहेगी। मैं तेरी कृति का फल दिये बिना ही जाता हूँ, इसमें आश्चर्य नहीं करना। क्योंकि मेरा चित्त अब ऐसे ही मार्ग पर लग गया है।

तू अपने दुर्लभ मनुष्य जन्म का दुरुपयोग कर रही है, इस बात का खेद है सो यदि हो सके तो मेरी इस बात पर विचार करना कि सुख का मार्ग कौनसा है। अधिक कुछ नहीं, क्षमाभाव रखना।

रतनचंद

हीरालाल,

दुर्लभ मनुष्य जन्मरूपी हीरा, हाय ! हाय ! तूने कौड़ी के बदले में दे दिया जौहरी का पुत्र होकर तू ऐसी भूल कर बैठा जो एक घसकटा भी नहीं कर सकता। तुझे ऐसी भिखारी अवस्था में मैं अब नहीं देखना चाहता इसलिये आज अन्तिम ·· है। होसके तो फिर से उसके पाने का प्रयत्न करना। इत्यलम्। रतनचंद

चिट्ठियों के पूरे होते-होते दोनों की अजीब हालत गई। अभी तक तो वे जानते थे कि यह कोई दैव कोप है, अथवा किसी शत्रु ने हमको गिरफ्तार किया है, परन्तु चिट्ठियों पर रतनचन्द की सही देखते ही उनकी घबराहट का ठिकाना न रहा। खेटपुर के गये हुए जिस रतनचन्द का उन्हें स्वप्न में भी स्मरण नहीं था और जिसे वे सर्वथा भूलकर निश्चित हो दुराचार में प्रवृत्त हुए थे, उसी को उन्होंने चिट्ठी के

रूप में सम्मुख देखकर उस घटना का अनुभव किया, जिसे दावाग्नि से तीन ओर से घिरे हुए मृग समूह चौथी ओर से आते हुए सिंह की भीषण गर्जना को सुनकर करते हैं। खेद है कि रतनचन्द की सरल और शिक्षाप्रद चिट्ठियाँ जिनमें किसी प्रकार के भय की सम्भावना नहीं थी, पापियों को पापयुक्त दृष्टि में बड़ी भयंकर दिखलाई देने लगीं। नाना प्रकार की चिन्ताओं में उनके प्राण सूख गये।

उधर सूर्यदेव ने हंसते हुए जयदेव के कमरे में भी प्रवेश किया, खुले हुए झरोखे में से उन्होंने अपने कर फैलाकर जयदेव को मानों यह कहते हुए जगाया कि उठो, संसार की कुछ और भी विचित्रता देखो, और हो सके तो उससे कुछ शिक्षा प्राप्त करो। जयदेव पंच नमस्कार स्तोत्र का पाठ करता हुआ शय्या से उठ बैठा, और क्षणार्ध को नेत्र बन्द करके ध्यानस्थित हो उसने कमरे में चारों तरफ अपनी दृष्टि फेंकी। झरोखे के पास ही पड़े हुए रूमाल को उसने विस्मित होकर उठा लिया और उसमें लपेटी हुई चिट्ठियों को बड़ी आतुरता से बांचना शुरू किया। पहली चिट्ठी में यह लिखा हुआ था—

प्रिय जयदेव,

काल की गति विचित्र होती है। कल क्या होगा, सो कोई नहीं जानता। तुम मुझसे बिदा लेना चाहते थे परन्तु आज मैं तुमसे ही बिदा लेता हूँ, जी चाहता था कि तुमसे एक बार और मिल लूं परन्तु कई बातें सोचकर न मिल सका। और अब मिलने की भी क्या आवश्यकता है। मैं आज सब दुःखों से छूटकर सुख के मार्ग में प्रवेश करता हूं तुम्हें इस बात से कुछ परिताप होगा, परन्तु नहीं, तुम बुद्धिमान् और दूरदर्शी हो, परमार्थ दृष्टि से देखोगे तो निश्चय ही प्रसन्न होओगे। मैं आज उस मार्ग में पैर रखता हूँ, जिससे यह दुर्लभ मनुष्य जन्म जन्म सफल होता है, और जहां से जाने में फिर बार-बार लौटना नहीं होता।

दूरदर्शी—जयदेव ! एकाएक मैंने ऐसा क्यों किया, इसके जानने के लिये तुम्हारा चित्त उद्विग्न होगा, अतः मैं भी उसे छिपाना नहीं

चाहता ! कल मैं खेटपुर नहीं गया। मार्ग से लौट के आया और एक अमराई में चिन्ता में पड़े-पड़े दिन पूरा किया, रात्रि को मेरी इच्छा अपने घर के चरित्र को देखने की हुई, और प्यारे जयदेव ! जिस चरित्र के देखने का कोई स्वप्न में भी विश्वास नहीं कर सकता, उसे मैं अपनी आँखों से देख भी चुका। पाप की सीमा देख चुका, लोक-मर्यादा और धर्म को सम्मुख भस्म होते देख चुका, और देख चुका सम्पूर्ण संसार को, सर्वथा अजानांधकार में आविर्भूत। सो अब यहां (संसार में) एक घड़ी भी कल नहीं पड़ती, बहुत जल्दी तारणतरण श्रीगुरुदेव की चरण शरण को प्राप्त होता हूं।

मैंने क्या देखा, उसे लखके इस पत्र को घृणास्पद और कलंकित नहीं बनाना चाहता हूँ, तुम स्वयं सब कुछ देख और समझ लोगे। वह चाबियों का गुच्छा तुम्हें सौंपे जाता हूँ और साथ ही एक वसीयतनामा लिखे जाता हूं कि आज से मेरे घर के तुम सब प्रकार के स्वामी हुए। अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिए मैं तुमसे अधिक सुयोग्य किसी को नहीं देखता। मेरे परिश्रम से कमाये हुए धन के भोगने का पात्र मैं तुम्हें ही समझता हूं। यह धन तुम जैसे सदाचारी धर्मात्मा और विचारशील पुरुष के हाथ में पड़कर अवश्य ही संमार्ग में लगेगा, यह निश्चय है।

वसीयतनामे में जिस धन का अधिकार तुम्हें दिया है, उसके सिवाय मेरी खास तिजोरी में कुल रुपया नकद रक्खा है, उसके विषय में मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि वह किसी ऐसे कार्य में लगाया जावे, जिससे सद्धर्म की सच्ची प्रभावना और सच्चा दान हो।

मैं जाता हूँ, परन्तु मेरे लिये तुम खेद नहीं करना। अब मैं अपने आत्मा को और मलीन नहीं रखना चाहता। सर्व जीवों के प्रति मेरा मैत्री-भाव है। मेरे हृदय में यह श्लोकार्ध बार-बार उठा करता है, "कदाऽहं समभविष्यामि पाणिपात्रो दिगम्बरः।" इत्यलम्।

तुम्हारा हितैषी
रतनचन्द

इस चिट्ठी के बांचते ही जयदेव की आँखों के सामने अंधेरा छा गया और वह इसका कुछ भी निश्चय नहीं कर सका कि, अब मुझे क्या करना चाहिये। चिट्ठी में लिखी हुई घटना के आभास को आँखों से देखने के लिये एकाएक घर से निकल पड़ा। हवेली के पास जाकर देखा तो चारों तरफ से किवाड़ बन्द हैं और ताले पड़े हुए हैं। उन्हें देखकर जयदेव बड़े संशय में पड़ा कि हे विधाता! यह क्या लीला है? आज क्या हुआ? रामकुंवरि कहाँ चली गई? किवाड़ किसने बन्द किये? क्या सेठजी की चिट्ठी का यही अर्थ है?

इस प्रकार बहुत से प्रश्न मन में ही करके जयदेव ने उन सबका उत्तर पाने के लिये हवेली का मुख्य द्वार खोलकर रतनचन्द के सोने के कमरे में प्रवेश किया और देखा कि रामकुंवरि तथा हीरालाल दोनों एक पलङ्ग से जकड़े हुए पड़े हैं। और दोनों के सिराहने अपनी चिट्ठी की नाई रतनचन्द की कलम से लिखा हुआ एक-एक कागज का पुर्जा पड़ा हुआ है। उन्हें इस अवस्था में देखते ही, जयदेव अपनी चिट्ठी का आशय साफ समझ गया।

हाय! अब न जाने ये दुष्ट हम लोगों के साथ कैसा वर्ताव करेगा क्या हमारे दुष्कर्मों की खबर इसको भी लग चुकी? और वे (रतनचन्द) इसी को सब अधिकार सौंप के चल दिये हैं? यदि ऐसा हुआ तो बड़ी कठिनता हुई। हमने इसके साथ कभी भलाई की इच्छा नहीं की है, सदा इसके मार डालने की तथा घर से निकलवा देने की चिन्ता की है। तब फिर इससे छुटकारा पाने की कैसे आशा की जा सकती है? अफसोस! हमारे ऐशोआराम के दिनों में धूल पड़ गई और अब ये जब हमारे कृत्य को प्रगट करेगा तब हम कैसे किसको मुंह दिखावेंगे? उन दोनों दुराचारियों के हृदय में ऐसे भयानक विचार आ आके डराने लगे और उनका शरीर फिर कम्पायमान होने लगा। जयदेव क्षणार्ध उनके सामने स्तब्ध खड़ा रहा।

बीसवां पर्व

विलासपुर के राजभवन के समीप ही एक कन्या पाठशाला की इमारत है। यह इमारत यद्यपि बहुत बड़ी नहीं है, परन्तु देखने में बड़ी सुडौल और साफ है। इसके चारों तरफ एक सुन्दर बगीचा लगा हुआ है, जिसमें नाना प्रकार के सुगन्ध युक्त पुष्प खिल रहे हैं। यह बगीचा एक परकोटे से घिरा हुआ है। भीतर जाने के लिये पर-कोटे में एक द्वार है, वहाँ पर निरन्तर दो पहरेदारों का पहरा रहता है। द्वार में से भीतर जाते ही पाठशाला का मुख्य द्वार मिलता है। वहाँ पर एक षट्कोणा कृति चबूतरा बना हुआ है, जिसके बीचों बीच एक संगमरमर के पत्थर पर बड़े बड़े और सुन्दर अक्षरों में यह लेख खुदा हुआ है।

नमः सरस्वत्यै।

श्री सरस्वती पाठशाला

विलासपुर के स्वामी महाराजाधिराज १०८ विक्रमसिंह जी की बुद्धिमती पुत्री सरस्वती (सुशीला) ने कुलीन कन्याओं और स्त्रियों के पठनपाठन के लिये और उन्हें विद्या के आभूषण से यथार्थ में सुन्दर बनाने के लिये इस पाठशाला की स्थापना की है। बिलासपुर राज्य का जब तक संसार में अस्तित्व रहेगा, तब तक यह पाठशाला श्रीजैनशासन के प्रसाद से परिचालित रहेगी।

श्रीरस्तु। शुभम्भूयात्।

कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा।

पाठशाला में प्रवेश करते ही पहले मुख्य अध्यापिका की कक्षा मिलती है। इस कक्षा का कमरा बड़ी सुन्दरता से सजाया हुआ है। सब प्रकार की मनोहर आरायश के अतिरिक्त इसकी दीवालों पर जो चित्र खिंचे हुए हैं, वे स्त्रियों के चित्तों पर एक विचित्र ही प्रकार का असर करते हैं। सीता, मनोरमा, गुणमाला, द्रौपदी, अंजना सुन्दरी

आदि पतिव्रता स्त्रियों के चित्र चित्रकार ने इस खूबी से चित्रित किये हैं, कि उनके दर्शनमात्र से उन पवित्रा पावना दिव्याङ्गनाओं का पूरा चरित्र सम्मुख होकर नृत्य करने लगता है।

नराधम रावण का वह अनुभव और पूजनीया सीता की वह घृणा-युक्त फटकार जो सामने के चित्र में झलक रही है, किस स्त्री के चरित्र को आदर्श न बनावेगी ! नृकीट कीचक के पैशाचिक नृत्य का प्रतिफल और द्रौपदी के उस प्रातःस्मरणीय शील की रक्षा किसे दुष्कृत्यों से पराङ्मुख और सत्कार्यों के सम्मुख न करेगी ? अहा, हा ! मनोरमा का वह वैजयन्ती नगरी के फाटक खोलने का दृश्य कैसा शिक्षाप्रद है। मनोरमा के पातिव्रत की वे दुःसह प्रभायें जो उसके मुखमण्डल पर प्रस्फुटित हो रही हैं और नगर की सहस्रावधि स्त्रियों की पाप-पूर्ण मलीन मुद्रायें जो श्रेणीबद्ध दिखाई दे रही हैं, एक बार ही चित्त को पतिव्रत—भक्त और दुश्चरित्र—त्यागी बना देती है। प्रत्येक चित्र के नीचे चित्र के कथा विषय का संक्षिप्त रीति से उल्लेख किया गया है, उससे चित्र का भाव समझने में बड़ी सहायता मिलती है। चित्रों के ऊपर जो स्थान अवशेष है, उनमें सैकड़ों स्त्रियोपयोगी शिक्षायें लिखी हैं।

कहा जा सकता है कि इस पाठशाला में अन्य कुछ न पढ़कर केवल उन शिक्षाओं को हृदय में धारण कर लेने से ही प्रत्येक कन्या और स्त्री सुयोग्य गृहिणी बन सकती है। अपने पाठक और पाठिकाओं की प्रसन्नता के लिये उन शिक्षाओं के कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

१—संसार में समाज रूपी शकट (गाड़ी) दुनियान्त्रित पद्धति से तब ही चल सकता है, जब उसके पुरुष और स्त्री रूपी दोनों चक्र एक सरीखे सुदृढ़ और सदाचारी होवें।

२—जैसे पुरुष का विद्वान् होना आवश्यक है, उसी प्रकार किंब-हुना उससे भी अधिक स्त्री का विदुषी होना आवश्यक है। क्योंकि

स्त्री पुरुष की जननी है। विदुषी माता का पुत्र अवश्य ही विद्वान् होता है।

३—बालकों में अनुकरण करने की शक्ति बहुत तीव्र होती है। विदुषी माता का पुत्र अपनी माता के सम्पूर्ण सद्गुणों का अनुकरण करके जगत्मान्य हो जाता है।

४—गृह (घर) वही है, जिसमें सदाचारिणी और विदुषी गृहिणी (घर वाली) हो, काष्ट मिट्टी के ढेर को गृह नहीं कहते हैं।

५—स्त्री की शोभा पातिव्रत है, और उस पातिव्रत की सच्ची पालना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि वह सुशिक्षिता विद्यावती न हो। अतएव पतिव्रत धर्म से सुशोभित होने के लिये स्त्री का विद्या पढ़ना मुख्य कर्तव्य है।

६—शीलरत्न को जो स्त्री अपने हृदय में धारण किये हैं, उसे संसार के अन्य चमकते हुए रत्नों के आभूषणों की आवश्यकता नहीं है।

७—उस रति-रंभा के रूप को जीतने वाली स्त्री से जो कि पर पुरुषरत है, वह कुरूपिनी, दरिद्रा, भिखारिणी हजार गुणी अच्छी है, जो कि अपने पति को ही अपना सर्वस्व समझती है।

८—विचार दृष्टि से देखा जावे तो स्त्री के लिये पति सेवा के अतिरिक्त और कोई व्रत उपवासादि महत्फल प्रद नहीं है जो स्त्री पतिव्रता है, उसके संपूर्ण व्रतों का पालन स्वयं हो जाता है, परन्तु जो दुराचारिणी है, वह नाना व्रत उपवास करती हुई भी दुर्गति की पात्र होती है।

९—स्त्री का परम सुन्दर आभूषण लज्जा है।

१०—सदाचारिणी स्त्रियाँ स्वतन्त्रता का तिरस्कार करती हैं। वे बालापन में पिता के, युवावस्था में पति के और वृद्धकाल में पुत्रों के आधीन ही रहती हैं। वह पारतन्त्र स्त्रियों के शील रक्षा की अजेय क्रिया है।

११—स्त्री को एक शरीर से दो जन्म धारण करने पड़ते हैं। जिस दिन पति के घर में प्रवेश होता है, स्त्री के द्वितीय जन्म का वही पहला दिन है। पहले जन्म की शिक्षा दूसरे जन्म में उसे सुखी और यशस्वी बनाती है। दूसरा जन्म बड़ी सावधानी से अतिवाहित करना चाहिये।

१२—अपने पति के प्रत्येक कार्य में जो मन्त्री का काम देती है, सेवा करने में जो दासी के समान है, भोजन कराने में जो माता का भाव धारण करती है। शय्या में जो रम्भा के तुल्य सुखदायिनी है। पृथ्वी के समान जिसमें क्षमा है और जो सम्पूर्ण गृह को धर्म-मार्ग पर चलाती है वही स्त्री–स्त्री है।

१३—पति के प्रत्येक आचार, विचार और शरीर की व्यवस्था जो सहस्त्र नेत्रों से देखती है परन्तु पर पति की ओर देखने में जो नेत्र-शक्ति हीन है वही स्त्री सुदृशी है।

१४—स्त्रियों के नष्ट होने के सात द्वार हैं। पिता के घर स्वतन्त्रता से रहना, मेलों में जाना, परपुरुषों के साथ वार्तालाप का सम्बन्ध रखना, पति का निरन्तर विदेश में रहना, पुंश्चली संगति रखना, अक्षरशत्रु रहना और पति का बुढ़ापा।

१५—द्रोपदी, सीता, अंजनासुन्दरी, मनोरमा, सुलोचना आदि जितनी पुराण प्रसिद्ध सच्चरित्र स्त्रियां हुई हैं, वे पढ़ी-लिखी पंडिता थीं, अतएव कहा जा सकता है कि स्त्रियों को सच्चरित्र बनाने में निर्मल विद्या एक कारण है।

१६—जब तक स्त्रियां शास्त्र विहित श्रावक कर्मों को अर्थात् गृहस्थ के आचार-विचारों में दक्ष नहीं होंगी, तब तक पुरुष अपने धर्म की भलीभांति रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

१७—स्त्रियां स्वभावत: पंडिता होती हैं। उनके कोमल कमनीय हृदय पर सद्विद्या बहुत शीघ्र अपना अधिकार जमा लेती है। स्त्रियों को धर्म-शिक्षा देना गृहस्थ धर्म का जीवन है।

१८—स्त्री का अपने धर्म से एक बार ही पतित होना असह्य,

अक्षम्य और कुल विप्लवकर है, इसलिये उसे अपने धर्म में स्थिर रहने के लिये अपने प्राणों से भी अधिक सचेत रहना चाहिये।

१६—क्षण भर के सुख के लिए कामांध होकर जो स्त्रियाँ पतित हो जाती हैं, वे अपने को अपने हाथ से एक बड़े भारी भयानक समुद्र में पटक देती हैं। नरकों के घोर दु.खों में उन्हें अनेक सागर पड़े-पड़े विलविलाना पड़ता है।

२०—स्त्री की पर्याय स्वभाव से ही निंद्य और पामर कही जाती है, परन्तु वह तद्विद्या, सदाचार और सुशीलता से जगद्वन्द्य और परम पवित्र भी मानी गई है। पुराण प्रसिद्ध स्त्रियों का लोग आज आदर दृष्टि से नामोच्चारण करते हैं।

मुख्य कक्षा के कमरे से जो कुछ सजावट है, वह इतनी अच्छी और अधिक है कि उसका वर्णन जितना किया जावे किसी प्रकार अरुचिकर नहीं हो सकता, परन्तु हमारी दृष्टि पर इन शिक्षाओं और सुन्दर दृश्यों के आगे वह सजावट कुछ प्रभाव न जमा सकी।

इस कमरे को अतिवाहित करके आगे चलने से एक प्रदर्शनी का कमरा मिलता है, जिसे देखते ही आँखें ठण्डी हो जाती हैं। स्त्रियों के हाथ से बनाये हुए नाना प्रकार के खिलौने, उनके वस्त्र, चित्रकारी के नमूने, यथास्थान रक्खे हुए है। स्थान-स्थान पर सुन्दर–दर्शनीय वर्णमाला–संगठित हाथ की लिखी हुई पोथियां रक्खी हुई हैं, ये पोथियाँ भी विद्यार्थिनी बालागणों की लिखी हुई हैं और उनमें विशेषत: पुराण प्रसिद्ध पतिव्रता स्त्रियों के चरित्र लिखे गये हैं। जिन बालाओं ने अपनी लेखनकला में पारितोषिक प्राप्त किया है, यहाँ उन्हीं को पोथियों को स्थान मिला है। एक पोथी के मुख पृष्ठ पर लिखे हुए थोड़े से वाक्य हमको बहुत प्यारे लगे।

"स्त्री से जगत्पूज्य सर्वज्ञदेव उत्पन्न होते हैं। सर्वज्ञदेव तीर्थंकर से मोक्षमार्ग का प्रकाशक परम हितकारी शास्त्र उत्पन्न होता है। शास्त्र से संसार के पाप-समूह नष्ट होते हैं और पापों के नाश होने से बाधा रहित सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार परम्परागत मोक्ष-

सुख की देने वाली सदाचारिणी कुलीन स्त्री को पवित्र जान के सज्जन स्वीकार करते हैं।"

प्रदर्शनी के कमरे के आगे एक कमरा पाक-विधि (रसोई) और सामान्यतः कुटुम्बोपयोगी वैद्यक और धात्रीविद्या सिखलाने का है। यहाँ केवल वे स्त्रियाँ शिक्षा पाती हैं, जो प्रौढ़ वय की तथा अनुभव-शीला हैं।

इसके आगे अन्य भागों में शेष कक्षायें हैं, जिनमें उत्तीर्ण होकर कन्या तथा स्त्रियाँ उपर्युक्त मुख्य कक्षा में प्रवेश करती हैं। प्रत्येक कक्षा में एक-एक अध्यापिका है। अध्यापिकाओं में कुछ तो कुलीन घरों की प्रौढ़वयस्का स्त्रियाँ हैं, जो नियत समय के लिये परोपकार बुद्धि से पढ़ाने को आती हैं, और कुछ ब्रह्मचारिणी साध्वी स्त्रियाँ हैं जो आर्यिका धर्म स्वीकार करने के सन्मुख हैं।

सुशीला इसी पाठशाला की मुख्य कक्षा में पढ़ती है और समय मिलने पर अन्य कक्षाओं की कन्याओं को पढ़ाती भी है। दिन रात उसका ध्यान इसी पाठशाला की वृद्धि की ओर रहता है, पठन-पाठन के अतिरिक्त उसको स्फटिक तुल्य निर्मल बुद्धि में अब लों किसी भी दूसरे रंग की परछाई नहीं पड़ी है। लोग कहते हैं, यह कोई देवकन्या है।

इक्कीसवाँ पर्व

जगत्प्रकाशक सूर्यदेव अपने समग्र दिन का प्रवास पूर्ण करके अस्ताचल की गुहाओं में विश्रांति पाने के प्रयत्न में थे। जैसे कोई पुरुष प्रयास के परिश्रम से अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार चार पहर अखण्ड प्रवास के श्रम से पीड़ित प्रभाकर एक लाल रङ्ग के गोले के समान दिखाई देते थे और संकेत से संसारी जनों को उपदेश देते थे कि जैसे मैं अपने कार्य में सदैव तत्पर रहके परिश्रम

करता हूँ, और विश्रांति पाकर पुन: कर्म में प्रवृत्त हो जाता हूँ, उसी प्रकार तुम्हें भी करना चाहिये, अर्थात् आलस्य को छोड़ देना चाहिये।

इस समय एक प्रौढ़ वय का पुरुष एक वृक्ष की डाल से घोड़े को बांधे हुए उसकी छाया में जिन के सहारे बैठा हुआ है वह पुरुष ५० को उल्लंघन कर चुका है, परन्तु उसके सुदृढ़ शरीर, काले केश और रक्तवर्ण मुखमण्डल को देखकर कह सकते हैं कि अभी वह ४० से बहुत पीछे है। उसके सामने एक काला हरिण बाणों से विद्ध हुआ अचेतन अवस्था में पड़ा है, उस बेचारे के मुँह में घास के कुछ तृण उलझे हुए हैं। बड़ा विस्तृत जंगल है, बड़ी-बड़ी पर्वतमालायें सुदूर तक पैर फैलाये पड़ी हैं, इतस्तत: जंगली जानवर अपने भयानक शब्दों से चित्त को उद्विग्न कर रहे हैं।

संध्याकाल पूर्व की ओर दौड़ता आ रहा था, वृक्ष-लता-पताओं पर शनै:-शनै उसका अधिकार हो रहा था कि उसके साथ ही एक नवयुवक शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए आया और उस प्रौढ़ पुरुष के सम्मुख आके खड़ा हो गया। इस आगन्तुक की वय अधिक से अधिक अठारह वर्ष की होगी। मुख पर श्मश्रुओं की रेखा आ रही थी, उन्नत मस्तक और गम्भीर मुख मुद्रा से जान पड़ता था कि यह कोई परम विद्वान् क्षत्रिय युवा है।

इस युवा को सामने खड़ा देखकर जीने का सहारा छोड़ कर पूर्वोल्लिखित पुरुष बैठ गया और उसने पास ही पड़े हुए कम्बल पर बैठने के लिए युवा से कहा। युवा विनयपूर्वक बैठ गया और बोला, क्या मैं आपका परिचय पा सकता हूँ ? जान पड़ता है आप कोई क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं। प्रौढ़ पुरुष ने कहा, मैं विलासपुर का राजा हूँ। मेरा नाम विक्रमसिंह है। मैं आज विलासपुर से आखेट के लिये निकला था, परन्तु इस हरिण का पीछा करने से सम्पूर्ण साथियों को छोड़कर इस जंगल में आ फंसा हूँ। मार्ग का पता नहीं लगता, प्यास के मारे बड़ी विकलता हो रही है। देखिये ! वह घोड़ा भी जीभ

निकाल रहा है। "अब कर्तव्य क्या है" यही सोच रहा था कि आप अचानक आ पहुँचे।

युवा—(आखेट की बात से जो घृणा हुई थी, उसे दबाकर) तो आप थोड़ी देर यहाँ ठहरें। पास ही एक जलाशय है, मैं आपके लिये वहाँ से जल लिये आता हूँ। आपकी विकलता से मुझे दुःख होता है।

विक्रम—नहीं! आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है, मैं स्वयं वहाँ चलूंगा। आपकी इतनी ही सहायता बहुत है कि जलाशय बतला दें।

ऐसा कहकर विक्रमसिंह वहाँ से उठ खड़े हुए और घोड़े की बाग पकड़ कर धीरे धीरे आगत युवा के साथ एक ओर को चल पड़े, जहां से कि वह युवा आया था। थोड़ी देर चलने पर एक टीले का उल्लंघन करते ही कुछ दूरी पर हरियाली की आभा दिखलाई दी, जिसके दर्शन मात्र से विक्रमसिंह का चित्त हरा हो गया। आगे वही हरियाली एक सुन्दर बगीचे का रूप धारण करके दिखलाई देने लगी जिसके कि बीच में एक छोटासा सुडौल बंगला बना हुआ था। बंगले के मस्तक पर एक ध्वजा फहरा रही थी जिसमें स्पष्ट और सुन्दर अक्षरों में "अहिंसा परमोधर्मः" का सिद्धांत लिखा हुआ था। विक्रम सिंह ने उसे बड़े ध्यान से वांचा, और कुछ संकुचित होके अपने पीछे की ओर देखा।

बगीचे के द्वार पर पहुँचते ही कुछ आगे बढ़कर युवा ने आवाज दी, जिसे सुनते ही दो-तीन सेवक आ गये। फाटक खोल दिया गया और इशारा पाकर एक ने महाराज के घोड़े को थाम लिया, दूसरे ने दो-तीन कुर्सियाँ लाकर बाग के बीच में डाल दीं। युवा और विक्रमसिंह दोनों उन पर बैठ गये। नाना प्रकार के सुगन्धित फूलों का सौरभ ले लेकर बाग का समीर अपने अतिथि का स्वागत करने लगा। एक सेवक आकर पंखा झलने लगा और दूसरा कुछ थोड़े से मेवे, फल और शीतल जल की एक झारी सामने रखके चला गया।

युवा—राजन्! आप सब दिन के थके हुए हैं। इस समय यदि

एकाएक जल पियेंगे, तो हानि होगी। इसलिये मेरी प्रार्थना है कि इस समय थोड़े से मेवे और फलादि खाकर ही आप तृप्ति लाभ करें, जलपान पीछे करें।

विक्रम—इस समय मैं आपका बहुत आभारी हूँ, परन्तु इसके पहले कृपा करके यदि कुछ हानि न हो आप अपना परिचय दे देवें।

युवा—हाँ! राजनीति के अनुसार तो यह अवश्य है कि राजा लोग सदा सशंकित-चित्त रह के कार्य करें। क्योंकि "हृदयं च न विश्वास्यं राजभिः किं परो नरः" अर्थात् राजाओं को अपने हृदय पर भी विश्वास नहीं करना चाहिये, दूसरे पुरुषों की तो बात ही क्या है? परन्तु यहाँ आप वह चिन्ता छोड़ दें। यह स्थान आपके लिए सब प्रकार से निर्विघ्न है। मैं आपके शुभचिंतक विजयपुर राज्य के एक वणिक का पुत्र हूँ। मेरे पिता का नाम श्रीचन्द्र है और लोग मुझे जयदेव कहा करते हैं। यह बंगला मैंने अपने चित्त को बहलाने और विद्याभ्यास करने के लिये बनवाया है। बस! यही मेरा सामान्य परिचय है।

विक्रम०—नहीं! शंका की कोई बात नहीं थी। तुम्हारे जैसे सौम्याकृति सुशील पुरुष को देखते ही वह राजनीति की बात कोसों दूर भाग गई थी। परन्तु परिचय पाये बिना प्रेम-बन्धन दृढ़ नहीं होते, इस हेतु सहज स्वभाव से पूछ लेना ही मैंने योग्य समझा और अपने उपकारी का परिचय पा लेना है भी तो उचित। अच्छा तो अब तुम्हें भी इस प्रसाद में मेरा साथ देना चाहिये।

जय०—राजन्! आप क्षुधित हैं, तृषित हैं और इस समय मेरे अतिथि हैं, इसलिये आपको इतना संकोच करने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जब आपका आग्रह है, तो मैं उसको अमान्य भी नहीं कर सकता। लीजिये!

ऐसा कहकर जयदेव विक्रमसिंह के साथ थाल में से फल उठाके

खाने लगा। विक्रमसिंह ने प्रसन्नता से सन्तुष्ट होके फलाहार किया और पश्चात् शीतल जल का पान करके तृप्ति लाभ की।

संध्या हो गई। प्रतीची के मुखमण्डल की रक्तिमा जो कुछ समय के लिये हुई थी, वह भी विलीन हो गई। समीर के धीमे २ परन्तु ठण्डे २ झोंके आने लगे। दिन भर के ताप से व्याकुल हुई चिड़ियां चुहचुहाती हुई अपने-अपने बसेरे ढूंढने लगीं। अन्धकार ने अपनी काली चादर से समस्त जगत् को ढककर अपना एकाधिपत्य प्रगट किया। यह देख गम्भीराशय आकाश ने उसकी मूर्खता पर मुसकरा दिया। तारागण खिल उठे। एक सेवक ने आके निवेदन किया, क्या आज्ञा होती है ? मैं उपस्थित हूं, बैठकखाने में सब प्रबन्ध हो चुका है।

जयदेव—महाराज ! यदि इच्छा हो तो बैठकखाने में चलिये, और कुछ आवश्यकता हो तो इस सेवक को आज्ञा दीजिये।

विक्रम—अच्छा ! चलिये। (सेवक से) यहाँ से अनुमान आध कोस उत्तर की ओर एक हरिण पड़ा हुआ है, तुम उसे उठा लाओ।

सेवक आश्चर्ययुक्त होके अपने मालिक की ओर देखता हुआ और कुछ सकपकाता हुआ "जो आज्ञा" कहकर वहाँ से चल दिया। इधर जयदेव उसे सुनते ही एक दीर्घ चिन्ता तथा शोक में निमग्न हो गया, और उसकी आकृति में तत्काल ही बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। यह देख दूरदर्शी राजा एक बड़े विचार में पड़ गया। बङ्गले की वह 'अहिंसा परमो धर्मः' वाली ध्वजा उसकी आँखों के सामने फिर लहराने लगी। वह जान गया, दयालु जयदेव के चित्त पर मेरे मृग वध के कृत्य से बड़ा भारी आघात पहुंचा है। हरिण की लाश पर जब इसकी दृष्टि पड़ी थी, तब ही यह दुःखी हुआ था, परन्तु अपनी सज्जनता से घृणा प्रकाश न करके इसने मुझे अपना अतिथि बनाया था। इस समय मेरे उसी मृगया मोह ने उसके हृदय के घाव पर नमक का काम किया है। मैंने बहुत बुरा किया, जो पुनः उस कृत्य को उसके सम्मुख लाने का उद्योग किया। (प्रगट) प्रिय जयदेव !

क्या मैं जान सकता हूँ कि इस समय आपकी मुद्रा पर एकाएक शोक छा जाने का क्या कारण है ?

महाराज का उक्त प्रश्न जयदेव ने सर्वथा नहीं सुना। वह उस समय इस उधेड़ बुन में लगा हुआ था कि "इन आँखों से अब वह उस दीन मृग का कलेवर पुन: कैसे देखा जावेगा ? हाय ! उसके मुँह में उलझे हुए उन छोटे-छोटे तृणों के स्मरण से मुझे रुलाई आती है। यह मुझ से कैसे हो सकेगा कि अपने अतिथि से इस विषय में कुछ कटुक व्यवहार करूँ और यह भी कैसे हो सकता है कि मेरा सुकोमल हृदय उस दया के वेग को रोक सके जो हरिण के देखते ही और भी उत्तेजित हो जावेगा।

हाय ! तो क्या मेरे द्वारा महाराज विक्रमसिंह का जिन्हें कि मैं बड़ा मान चुका हूँ, अपमान होगा ? नहीं मैं उन्हें समझाऊंगा। समझाने में अपमान की कौन सी बात है ?" जयदेव की विचार-तरंगें यहाँ तक पहुँची थी कि महाराज ने अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर उसे फिर दुहराया। और उसे सुनते ही जयदेव चौंक पड़ा। "क्या उत्तर दिया जावे," बड़ी कठिनता से इसका निश्चय करके उसने कहा, "पृथ्वीपाल ! आपके मुँह से हरिण शब्द निकलते ही मुद्रा पर उस दीन हीन हरिण के दयार्द्र कलेवर का असर हो गया होगा, और कुछ नहीं।

विक्रम०—यदि ऐसा है तो उस सेवक को लौटा लेना चाहिये। जिस कार्य से किसी को कष्ट हो, मैं उसे कभी नहीं करूंगा। (दूसरे सेवक से) अच्छा, तुम उसे दौड़कर लौटा लाओ।

जय०—राजन ! क्या आप इस पूज्य वाक्य में दृढ़ प्रतिज्ञ होते हैं कि "जिस कार्य से किसी (आत्मा) को कष्ट हो, मैं उसे कभी नहीं करूंगा"। अहा कैसा सुन्दर वाक्य है। प्रत्येक मनुष्य का यही धर्म है। और हे पृथ्वीपाल ! आप जब पृथ्वी के पालक हैं, तब आपको कभी यह अधिकार नहीं है कि किसी की आत्मा को कष्ट दें। अपराध क्षमा हो, महाराज ! जो राजा निरपराधी दीन, हीन, स्वेच्छा-विहारी

जीवों को बिना कारण कष्ट देता है, वह पृथ्वी का रक्षक नहीं किन्तु भक्षक है।

क्षत्रियों का धर्म रक्षण करने का है, न कि भक्षण करने का। नरनाथ! किंचित् विचार कीजिये कि सम्पूर्ण प्राणी दुष्टों से सन्त्रस्त होकर अपने राजा के द्वार पर जाके पुकार करते हैं, और रक्षा पाते हैं। परन्तु जब राजा ही उनका शत्रु बन जावे तो वे बेचारे अपनी पुकार किसको जाकर सुनावें। धर्मावतार! लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि जब कोई दाँतों में तिनका दबा के किसी के सम्मुख जाता है, तो वह अवश्य ही रक्षा पाता है। परन्तु हाय! यह बड़े दुःख की बात है कि बेचारे वनवासी हरिण जिनके मुख में निरन्तर तृण समूह रहता है, और जो किसी का कभी कुछ अपराध नहीं करते हैं, वे भी पृथ्वी रक्षक राजाओं के बाणों का निशाना बनते है। हाय! उस झुण्ड के हरिणों की क्या दशा होती होगी, जिसका एक सरताज अकाल ही में काल के गाल में जा फँसा है।

महाराज! मैं आप से हाथ जोड़ के पूछता हूँ कि क्या इस एक समनस्क पंचेन्द्रिय पशु के सब से प्यारे प्राणों का घात करके आपको अपनी एक छोटी सी हवस मारने के अतिरिक्त और कुछ लाभ हुआ है? आप चाहते तो उस हवस को और किसी तरह पूर्ण कर लेते। परन्तु न्यायाधीश! उस बेचारे पशु के प्यारे प्राण अब पुनः लौट आवें इसके लिये संसार में कोई उपाय है?

बिक्रम०—नहीं! दयालु जयदेव! बस करो। अब मुझे अधिक लज्जित न करो। तुम्हारे वचन बाणों से मेरा हृदय विद्ध हो गया है, और उसमें से दयामृत का प्रवाह निकल कर सारे शरीर को तर कर रहा है। यदि विश्वास न हो तो देखलो, मेरे नेत्रों में से वह परमामृत बाहर भी निकल रहा है।

जयदेव—जय हो महाराज की! जिनशासन के प्रसाद से आपकी विजय हो भगवति दये! इस पराक्रमी क्षत्रिय के हृदय में तू सतत निवास कर, ऐसा विस्तृत स्थान अब तुम्हें अन्य नहीं मिलेगा। ऐसा

कहते-कहते जयदेव गद्गद् हो गया, और यह कहते हुए विक्रमसिंह के पैरों पर गिर पड़ा कि नरनाथ ! आज आप मेरे पूज्य हुए। राजत्व, क्षत्रियत्व और ईश्वरत्व तीनों को मैं इस समय आप में देख रहा हूँ। आपके आने से मेरा स्थान पवित्र हो गया।

विक्रमसिंह ने जयदेव को उठा कर छाती से लगा लिया, और प्रेमाश्रु बहाते हुए कहा—प्यारे जयदेव ! तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं जिनके तुम सरीखा पुत्र है। यदि पुत्र हो, तो तुम्हारे ही जैसा हो। आज मुझ पर जो तुम्हारा उपकार है, मैं उसे आजन्म नहीं भूल सकता। भूतकाल में दया के बिना मनुष्य होकर भी मुझमें मनुष्यत्व नहीं था, जिसे मैंने तुम्हारे प्रताप से पा लिया है। तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मेरा कुल परम्परागत वही धर्म है, जिससे अधिक जीव दया पालन का दावा करने वाला संसार में दूसरा धर्म नहीं है। मेरे सम्पूर्ण कुटुम्ब की श्रद्धा उसी जिन धर्म में ही है। और मैं भी जिन धर्म का उपासक हूँ परन्तु कहते हुए लज्जा होती है कि इतने पर भी मैं इस मृगया के दुर्व्यसन का त्यागी नहीं था, जिसे तुमने सहज ही छुड़ा दिया।

जयदेव—महाराज ! इस विषय में काललब्धि का ही उपकार समझना चाहिये। मैंने दो-चार प्रार्थनाओं के अतिरिक्त और किया ही क्या है ? अस्तु अब समय हो गया है, भीतर चल के विश्राम कीजिये। क्योंकि आप दिन भर के थके मान्दे हैं। और मुझे आज्ञा दीजिये, मैं संध्यावन्दनादि क्रियाओं से छुट्टी पा लूं। महाराज, बहुत अच्छा कह के विश्रामगृह में गये, और जयदेव अपने विद्यागृह की ओर गया।

अनुमान दो घण्टे के पश्चात् जयदेव अपने संध्या-कर्म से छुट्टी पाकर विश्रामगृह की ओर गया। देखा तो महाराज जाग रहे हैं। जयदेव के पाँवों की आहट पाकर वे उठ बैठे, और बोले आओ, न जाने क्यों आज निद्रा नहीं आती। कुछ समय तुम्हारे साथ बात चीत करके ही चित्त को प्रसन्न करें। आज्ञा पाकर जयदेव बैठ गया,

और दोनों में ज्ञान विषयक चरचा छिड़ गई। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, राजनीति आदि जिन-जिन विषयों में विक्रमसिंह ने देखा जयदेव को परिपूर्ण पाया। इसके अतिरिक्त जयदेव के सुदृढ़, पराक्रमी और सुन्दर शरीर, मनोहर लावण्य, तथा स्वाभाविक नम्रतादि विशेष गुणों की भी न्यूनता नहीं थी। इसलिए विक्रमसिंह के हृदय में प्रेम का संचार होकर एकाएक यह बात प्रतिध्वनित हुई कि सर्वगुण सम्पन्न सुशीला के लिये क्या कोई इससे बढ़कर वर मिल सकता है? (ग्रन्थ-कार) नहीं! नहीं! नहीं!

रात्रि अधिक बीत गई थी, इसलिये जयदेव ने निद्रा लेने का प्रस्ताव किया जिसका विक्रमसिंह ने अनुमोदन किया, परन्तु अपने प्रयोजन की सिद्धि असिद्धि जानने के लिये चलते-चलते जयदेव से यह पूछ ही लिया कि, अभी तुम्हारा विवाह हुआ है कि नहीं? लज्जित होता हुआ जयदेव 'नहीं' कहकर अपने शयनगृह को चला गया। महाराज विक्रमसिंह ने "सरस्वती कन्या के साथ जयदेव का पाणि-ग्रहण होना समुचित है कि नहीं।" इसी विचार में उछलते-कूदते हुए निद्रादेवी की गोद में सिर रख दिया। इधर जयदेव एक नवीन ही उधेड़ बुन में लगा। जब तक निद्रा नहीं आई, वह तर्क, अनुमान और युक्तियों से इस बात का निर्णय करने में अपनी बुद्धि को लड़ाता रहा कि, "तुम्हारा विवाह हुआ कि, नहीं; यह पूछने में महाराज का क्या अभिप्राय है?" निद्रा आने पर जयदेव ने आज अनेक शुभ स्वप्न देखे।

बाईसवां पर्व

बसन्त का प्रभाव बड़ा सुहावना होता है। शय्या से उठते ही णमोकार मन्त्र का उच्चारण कर के "मैं कौन हूँ? यह आँख, कान, नाकवाला कौन है? मुझ चैतन्यनाथ से इस जड़रूप पुद्गल का संबंध

क्यों हुआ ? और संसार क्या है ?" आदि प्रश्नों के उत्तर अन्यान्य विचार तरंगों को रोक कर जब शांतिता के साथ मनन किये जाते हैं, विश्राम पाई हुई निर्मल बुद्धि जब सब ओर से क्षोभरहित होती है और जब दु:खोत्तप्त संसार की आंच कुछेक दूर रहती है तब बसन्त का अत्यन्त प्यारा शीतल मलयसमीर अपने मन्द-मन्द प्रवाह से एक विचित्र ही प्रकार का आनन्दानुभवन कराता है। हतप्रभ होता हुआ चन्द्रमा कहता है—देखो सचेत रहो ! मेरे सरीखे श्रीमान्, कान्तिमान् और लोकोपकारी की भी इस संसार में यह दुर्दशा हो रही है, तुम किस खेत की मूली हो ? आम्रवृक्षों के भौरों पर गुंजार करते हुए भौंरे उपदेश देते हैं—इन्द्रिय के विषयों की लालसा विषयों के प्राप्त होने पर घटती नहीं है, प्रत्युत बढ़ती ही जाती है।

एक कली का सौरभ लेकर दूसरी पर मंडराये बिना हमें चैन ही नहीं पड़ता। सरोवरों में जो कमलपुष्प शांतिता के साथ मुँह छुपाये हुए थे, बड़े भारी जोश खरोश के साथ निकलते हुए अँशुमाली (सूरज) को देखकर हँसते हैं और मानो कहते हैं—अच्छा आपकी भी कला देखें। एक महाशय तो ढाक के पत्ते के समान मुँह बनाये हुए रो ही रहे हैं। अब आप भी अपना हौंसला निकाल लीजिये। उधर कोयल अपनी मधुर ध्वनि से सबके चित्तों को रंजायमान करके इन विरक्तता के सब विचारों पर हड़ताल फेरना चाहती है।

कंचनपुर से ५–६ कोस उत्तर की ओर एक जंगल के बीचोंबीच एक मनोरम सरोवर है। उसके आसपास आम्रादि छायादार वृक्षों की श्रेणी लगी हुई है, जहाँ पर थके हुए पथिक घड़ी भर लेट के विश्राम पाते हैं, यह स्थान किसी धर्मात्मा ने पथिकजनों को आराम पहुँचाने के लिए तैयार कराया था।

रतनचन्द यहीं पर एक वृक्ष की छाया में एक पत्थर के सहारे बैठा हुआ ऊपर कही हुई बसन्त की प्राभाति की शोभा से अपने चित्त को शांत कर रहा है, वह इस समय अकेला है। उसके शरीर पर एक सादी अङ्गरखी, पगड़ी और धोती के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अभी एक भिक्षुक को अपना घोड़ा सामान सहित देकर वह अपने सिर का एक बड़ा भारी भार उतार के यहाँ आ बैठा है। उसके पास वर्तमान में शरीर पर के कपड़ों के अतिरिक्त बाह्यपरिग्रहों में और कुछ शेष नहीं है। उस समय रात्रिभर के जागरण से और उसमें शारीरिक तथा मानसिक अश्रान्त परिश्रम करने से रतनचन्द की शिथिल इन्द्रियाँ विश्राम की प्रतीक्षा करती थीं, परन्तु चित्त की अनेकाग्रता से निद्रा नहीं आ सकी। सैकड़ों विचारों का उदय हो होकर उनका अस्त होने लगा।

रामकुंवरि और हीरालाल को पलंग से जकड़े हुए छोड़कर वह चला आया था। चलते समय उन्हें जिस प्रकार अपराध-मुक्त कर दिया था, बन्धनमुक्त करने का उसे स्मरण नहीं रहा था, इसका स्मरण हो आने से रतनचन्द को इस समय बहुत व्याकुलता होने लगी।

वह सोचने लगा, हाय ! हतभाग्य दीन जीवों को मेरे कारण से व्यर्थ ही कष्ट होगा। कामादि विकार से बेचारे वैसे ही सताये हुए थे और अब मेरे बन्धनों से दुःखी होंगे। जब लोग उन्हें उस अवस्था में देखेंगे, तो अवश्य ही दुष्कर्म करने की उनमें शंका करेंगे तब उन्हें कितना हृदयवेगी दुःख न होगा ? स्वयं घृणा, लज्जा और मूर्खता के कारण आश्चर्य नहीं कि, बेचारे आत्मघात कर लेवें। ओफ ! यह मैंने बहुत बुरा किया। दो युवा मनुष्यों के प्राणों का व्यर्थ ही मेरे द्वारा घात होगा। परन्तु हवेली की चाबियाँ तो मैं जयदेव को दे आया हूँ। जयदेव ऐसा निर्दय—हृदय नहीं है। वह अवश्य ही उन पर दया करेगा। मुझे निश्चय है कि दयालु हृदय जयदेव उन्हें अवश्य क्षमा कर देगा। हाय ! अब पीछे-पीछे विचार होते हैं, तब निश्चय होता है कि मैंने एक ही नहीं बहुत सी भूलें की हैं। जब संसार से मुझे सरोकार ही नहीं था तब हीरालाल, रामकुंवरि और जयदेव को चिट्ठी लिखने की क्या आवश्यकता थी ? उन्हें दण्डार्ह बतलाकर धन सम्पत्ति का स्वामी जयदेव बनाया जावे, यह प्रयत्न भी मैंने क्यों किया ? मेरा जयदेव मित्र क्यों और हीरालाल शत्रु क्यों ? मुझे

सबको एक दृष्टि से देखना था। परन्तु नहीं देखा, हाय ! इस अवस्था में भी मोह मेरा पीछा नहीं छोड़ता।

रामकुंवरि ? मैंने नहीं जाना था कि तू शहद से भरी हुई तीक्ष्ण छुरी है। तेरे स्त्रीजन-सुलभ हावभावों में मुग्ध होकर मैं तुझे सर्वस्व अर्पण कर चुका था, परन्तु आखिर तू मेरी नहीं हुई। यह कैसी बुरी घड़ी थी, जिस दिन मैंने अपनी ढलती हुई उमर पर शिथिल होती हुई अंगयष्टि पर और शान्तप्राय होती हुई प्रकृष्ट विषय वासनाओं पर विचार न करके तेरा पाणिग्रहण किया था। हाय ! तेरी धधकती हुई नवीन कामज्वाला शान्त न हो सकी और आज उसने अपने अनर्थ से निर्मल कुलकीर्ति को भस्म कर डाला। यौवन और वृद्धावस्था इन दोनों के पारस्परिक विरोध पर मैंने कुछ भी विचार नहीं किया, यह उसी का फल है।

स्त्रियो पर विश्वास करना सचमुच बड़ी भारी भूल है। वे कपट और कुटिलता की साक्षात् प्रतिमूर्तियाँ हैं। एक कवि ने सच कहा है "कि स्त्रियों के वचनों में, भौंहों में, कटाक्षों में, गमन में और अलकावलियों में जो कुटिलता दिखलाई देती है वह और कुछ नहीं उनके हृदयों की कुटिलता है, जो भीतर न समा सकने के कारण शरीर के बाहर भी फूट निकली है। ये स्त्रियाँ संसार रूपी विषवृक्ष की मूल है। इन्द्रायण के फल के समान ये केवल बाहर से मनोहर दीखती हैं, परन्तु यथार्थ में इनका आस्वाद बड़ा भयकर है। कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले युवा पुरुष को भी छोड़कर ये कुरूप कुकर्मी नीचों के साथ रमण करती है। इनकी रुचि का पता लगाना बड़ा कठिन है।

जयदेव जैसे सत्यनिष्ठ और जितेन्द्रिय पुरुष को भी जो स्त्रियाँ कलङ्कित कर सकती हैं उनकी मलीनता कलङ्किता का क्या ठिकाना है ? रामकुंवरी ! तूने अपने चारित्र से इस बात की मुझे अच्छी शिक्षा देदी है। इस विषय में तेरा मुझ पर बड़ा उपकार है।

अहा ! अब मैं कैसे अच्छे मार्ग पर आ रहा हूँ, जिसमें एक भी कंटक नहीं है। सम्पूर्ण चिन्ताओं से रहित होकर और सब ओर से

अपनी कामनाओं को खींचकर , श्रीगुरु के वचनों के सहारे से जब मैं उस सरल मार्ग पर चलने लगूंगा, आशा है कि तब आत्मा के अभीष्ट-स्थान की प्राप्ति में अधिक विलम्ब न होगा।

परन्तु अब मैं यहाँ निश्चित क्यों पड़ा हुआ हूँ। अभी तक कोई महात्मा मुनि के दर्शन नहीं हुए। ये हृदय के नाना संकल्प विकल्प जो छोड़ देने पर भी पीछे पड़े हुए हैं, विना श्रीगुरु का उपदेश पाये नष्ट नहीं होंगे, सो मुझे अब शीघ्र ही उनका अन्वेषण करना चाहिये। और संसार समुद्र से पार होने के लिये उनके वचनरूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिये। यह मोह का सघन अन्धकार जो सब कुछ छोड़ देने पर भी बार-बार हृदय पर अपना अधिकार जमा लेता है, श्रीगुरु की वचन किरणों के प्रकाश बिना नष्ट नहीं होगा।

रतनचन्द के मन में इस प्रकार की अनन्त भावनायें एक के पीछे एक उठ रहीं थीं। परन्तु उनमें नियम का प्रतिबन्ध नहीं था। यह अनियमितता का ही कारण था, जो पहले रामकुंवरि में रागद्वेष छोड़ कर तटस्थ होने के लिये तत्पर होकर पश्चात् उसी की एक प्रकार से निन्दा करने और अन्त में उपकार मानने में रतनचन्द का वैकल्पिक चित्त कुछ आगा पीछा न सोच सका। अस्तु ! थोड़ी ही देर में पास की एक पगडंडी पर से एक परम निर्ग्रन्थ मुनि को जाते हुए देखकर रतनचन्द उठ बैठा, और हर्षोत्फुल्ल होकर दौड़ता हुआ उनके सन्मुख जाकर चरणों पर गिर पड़ा।

मुनिराज ने ठहर कर "धर्मवृद्धि" दी और पूछा *रतनचन्द ! कुशल तो है ? सुनकर आश्चर्य स्फुरित नेत्रों से रतनचन्द ने उत्तर दिया, आपके पुनीत दर्शनों के सन्मुख अकुशल कहाँ ? सब प्रकार से आनन्द है।

मुनिराज—भैया ! तुम बड़े भाग्यशाली हो तुम्हारा संसार अब

*एक अपरिचित अदृष्ट-पूर्व मुनि के द्वारा अपना नाम सुनकर रतनचन्द को आश्चर्य हुआ—मुनिराज को अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था।

बहुत थोड़ा अवशेष रहा है। अच्छा किया जो इस संसार को तुमने पानी के बुद्बुदे के समान अनित्य समझा, और उससे मोह छोड़ दिया। संसार में कहीं भी सुख नहीं है। इन्द्रियजनित सुख पराधीन, परिणाम में दु:खदाई और केवल अविचारित-रम्य है। सच्चा सुख मोक्ष में है। वह सर्वथा नित्य, शुद्ध और स्वाधीन है। वह आत्मा का स्वभाव है।

संसार के सम्पूर्ण विभावों को परित्याग करके केवल आत्मस्वभाव में तल्लीन होने से उस अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति हो सकती है। और ऐसा करने के लिये अर्थात् केवल आत्मस्वभाव में तल्लीन होने के लिये जैनेश्वरी दीक्षा ही एक मात्र साधन है।

यह नित्य-शुद्ध आत्मा अनादिकाल से पुद्गल का सम्बन्ध पाकर मलिन हो रहा है। संसार के मूल भूत आठ कर्मों ने इस तरह ढक रक्खा है कि उनके कारण इसका असली ज्ञान-दर्शन-स्वभाव प्रगट ही नहीं होने पाता है, और निरन्तर चारों गतियों में नाना स्वांग धारण करके भ्रमण करना पड़ता है। जैनेश्वरी दीक्षा के अतिरिक्त इन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से छुड़ाने के लिये और यह संसार की विडम्बना के लिये और कोई साधन नहीं है।

परन्तु यह जैनेश्वरी-दीक्षा बड़ी कठिन है। इसको वे ही धारण कर सकते हैं, जिनका संसार से मोह घट गया है, और जिन्हें यथार्थ में विषय सुखों से विरागता आ गई है। इस स्वतन्त्र स्वाधीन और निर्भयवृत्ति को धारण करना अच्छे पुरुष सिंहों का कार्य है, न कि इन्द्रियों के आधीन रहने वाले कायर पुरुषों का।

रतनचन्द—(हाथ जोड़ के) धन्य भगवन्! आज मैं आपके दर्शनों से कृतार्थ हो गया। संसार ज्वाला से व्याकुल हुए मुझ क्षुद्र जीव को जो कि अपने यथार्थ दर्शन-ज्ञान स्वभाव को भूला हुआ दु:खी हो रहा है, उस अर्हंती-दीक्षा की सघन शीतल छाया में पहुँचा के शान्त कीजिये। हाय! अब मुझ से संसार के वे भयकर, घृणित, असेवितरम्य? और दुरंगे दृश्य देखे नहीं जाते हैं। कृपा करके अब मेरी

रक्षा कीजिये। मुझे पूरा विश्वास है कि आपके चरणों के प्रसाद से दुर्धर जिन दीक्षा भी सहज हो जावेगी। मुझे शीघ्र ही उन पुरुष सिंहों की श्रेणी में विचरने योग्य बना दीजिये, जो भयानक वनों की गह्वर गुफाओं में असह्य शीतोष्णता युक्त पर्वतों के मस्तकों पर सहस्रों हिंस्र जीवों के समूह में सम्पूर्ण चिन्ताओं से रहित, निर्भय और निष्परिग्रह होकर स्याद्वाद-वाणी की गर्जना करते हुए स्वच्छन्द विहार करते हैं। और जिन्हें देखते ही परवादिमृग गण थर-थर कांपने लगते हैं।

मुनि०—आत्मार्थी रतनचन्द ! तुम्हारे सच्चे उत्साह को देखकर प्रसन्नता होती है। श्रीजैनेन्द्र धर्म के प्रसाद से तुम्हारा अभीष्ट ही सिद्ध होगा। तुम्हें अब संसार सम्बन्धी विकल्प जालों को छोड़ देना चाहिये। तुम पर जो कुछ बीता है, वह कुछ आश्चर्य नहीं है।

भयावह संसार में इससे भी सहस्र गुणे दुष्कृत्य अहर्निश होते रहते हैं, परन्तु आत्मा ज्ञान से जो लोग कोरे हैं, उन्हें इससे कुछ उद्वेग नहीं होता। विष्टा के कीड़ों की नाई वे उस विष्टा को ही अपना क्रीड़ा स्थान समझते रहते हैं। तुम्हारी काललब्धि निकट आ गई थी, इसलिये उस कृत्य से तुम्हें संवेग और निर्वेद प्राप्त हो गया, अन्यथा विचार करके देखो ! संसार का कौनसा कृत्य घृणित और वैराग्य का करने वाला नहीं है ? सो अब उस ओर अपने चित्त को सर्वथा मत जाने दो।

तुम्हारा संसार में अब कोई नहीं है, जो है वह तुम्हारे साथ है। वह तुमसे पृथक् नहीं है, उसी का निरन्तर ध्यान करो। अनन्त दर्शन अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसौख्य जो उसके स्वभाव हैं, देखोगे कि तुम्हें अति शीघ्र प्राप्त हो जावेंगे।

———

तेईसवाँ पर्व

प्रातः काल हुआ। अन्धकार अपने पराक्रमी शत्रु को पूर्व की ओर से उदय होते हुए देख भागा। कौए "वयं काकाः वयं काकाः" करते हुए लगे गुहार मचाने कि कहीं अन्धकार के धोखे अपने काले रङ्ग के कारण हम लोग न सताये जावें। चिड़ियां चुहचुहाने लगीं। महाराज विक्रमसिंह की आँख खुल गई। वे शय्या का परित्याग करके प्राभातिकी क्रियायों से निवृत्त हो शीघ्र ही तैयार हो गये। आज्ञा पाकर सेवकों ने घोड़ा कसके सम्मुख खड़ा कर दिया। जयदेव भी आ पहुँचे। प्रणाम करके बोले—महाराज ! आपके आगमन से मैं धन्य हुआ हूँ। परन्तु इस थोड़े से रात्रि काल के समागम से मैं संतुष्ट नहीं हो सका सो कृपा करके आज का आतिथ्य और भी स्वीकार करें।

विक्रम—(प्रेमाश्रु भर के) प्रिय जयदेव ! न जाने तुम्हारी ओर मेरा चित्त इतना आकर्षित क्यों हुआ है कि तुम्हें छोड़ने को स्वयं जी नही चाहता और न तुम्हारे सुकोमल वचनालाप से तृप्ति होती है। परन्तु क्या किया जावे, उधर लोग मेरे लिये घबड़ा रहे होंगे इसलिये विवश तुमसे विदा लेता हूँ, अन्यथा एक दिन क्या तुम्हारे पास अनेक दिन रहने में भी मुझे कोई संकोच नही था।

जयदेव नरनाथ ! मैं बड़ा सौभाग्यशाली हूँ, जो आप जैसे महत्पुरुषों के प्रेम का पात्र हुआ हूँ। श्रीजी करे, आपका यह प्रेम इस बालक पर सदा बना रहे। इस समय आप सकारण जाते हैं, इसलिये अब रोकने के लिये अधिक आग्रह नहीं किया जा सकता। परन्तु इसका अवश्य खेद रहेगा कि मुझसे आपकी कुछ उचित सेवा नहीं हो सकी।

विक्रम०—नहीं जयदेव ! खेद की कोई बात नहीं है। तुम्हारे समागम से मुझे जो सुख हुआ वह असामान्य है। तुमने कल उपदेश देकर मुझ पर जो उपकार किया है, उसके ऋण से मैं कभी मुक्त नहीं हो सकूंगा। अहिंसा का तुम्हारा बतलाया हुआ वह सुन्दर रूप

मेरे हृदय पर ज्यों का त्यों अङ्कित है। अब मैं जाता हूँ, परन्तु चलते चलते एक बात कहे बिना नहीं रह सकता कि यदि मुझ पर तुम्हारा कुछ भी आन्तरिक स्नेह हो, तो कोई अवसर निकाल कर बिलासपुर आना और मुझे दर्शन देके सुखी करना।

जयदेव—(नतमस्तक होके) बहुत अच्छा। आपकी आज्ञा की पालना मैं यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।

इसके पीछे परस्पर आलिंगन करके विक्रमसिंह तो घोड़े पर सवार हो गये और जयदेव शिष्टाचार की पालना के लिये थोड़ी दूर तक उनके साथ-साथ गया परन्तु आगे विक्रमसिंह के आग्रह से लौट आना पड़ा। एक पथदर्शक सेवक के साथ महाराज बिलासपुर की ओर रवाना हो गये।

जयदेव लौट के अपने बङ्गले में पहुँचा। वहाँ जाके देखा, तो एक आराम कुर्सी पर भूपसिंह पड़े थे जो कि इसे देखते ही उठ खड़े हुए। दोनों के चेहरे खिल उठे, और आनन्द के उद्वेग से दोनों परस्पर लिपट गये। जयदेव का हृदय का दुःख जो कि, विक्रमसिंह के वियोग से हुआ था, आनन्द रूप में परिणत हो गया। पश्चात् कुशल प्रश्न हो चुकने पर इस प्रसार बातचीत होने लगी—

जयदेव—यदि आप कुछ समय पहले आ जाते तो अच्छा होता। सहज ही विलासपुर नरेश से भेंट हो जाती। मैं उन्हें अभी पहुँचा के आ रहा हूँ। बड़े सज्जन नरेश हैं।

भूपसिंह—विलासपुर नरेश के दर्शन तो मुझे कभी नहीं हुए। परन्तु पिताजी से उनकी बहुत सी प्रशंसा सुनी है। कहते हैं, बड़े उदार-हृदय, दृढ़-प्रतिज्ञ और पराक्रमी राजा हैं। खेद है कि मैं ऐसे अच्छे एकांत अवसर में उनसे न मिल सका। अस्तु, पर यह तो कहिये कि आपकी इस एकान्त विद्या-कुटीर में आये कैसे ?

जयदेव—कल कुछ दिन रहे, यहाँ बैठे-बैठे चित्त ऊब जाने से मैं टहलते-टहलते इस पास की पहाड़ी की तलैटी में समीर-सेवन कर रहा था कि एक झाड़ के नीचे आप दिखलाई दिये। निकट जाकर

पूछने से ज्ञात हुआ कि आप शिकार के लिये आये हैं और एक हरिण के कारण मार्ग भूलकर तृषा के मारे वृक्ष की छाया में स्थगित पड़े हैं, तब मैं अपने कर्तव्य वश ढाढ़स देकर उन्हें यहां ले आया था।

भूपसिंह—(मुस्कराके) पर दयानिधान ! यह तो बतलाइये कि शिकार की अभ्यर्थना करके आपने कौनसा पुण्य कमाया ?

जयदेव—वही, जो कि आपकी मित्रता करके कमा चुका हूँ। कहिए स्मरण तो है ! महाराज ! उपहास न कीजिये, मेरा प्रयत्न निष्फल नहीं हो सकता। आपको सुनकर हर्षित होना चाहिये कि मृगया प्रेमी विक्रमसिंह सदा के लिये अहिंसाणुव्रत के धारी हो गये।

भूपसिंह—(हँसके) शाबास। मैं तो पहले ही से जानता हूँ कि आप जीते रहेंगे, तो बहादुरी का नाम ही मिटा देंगे।

जयदेव—तो क्या बेचारे निरपराधी वन्य पशुओं को सताना छोड़ने से ही बहादुरी चली जाती है ? जान पड़ता है, अभी आप सूर्यपुर से हार के आ रहे हैं। इसलिये यह उलटी धुनि समाई है।

भूपसिंह—नहीं मित्र ! चिन्ता मत करो। अहिंसा धर्म के प्रसाद से विजयपताका उड़ा के ही आया हूँ, और एक दिन सर्वत्र अहिंसा की ही विजयपताका उड़ेगी। यह मेरा पक्का विश्वास है। निरप-राधी जीवों के घात से और पराक्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा न होता तो मृग या प्रेमी निहालसिंह और उसके पुत्र उदयसिंह को मैं लीला मात्र में कैद करके न लाया होता।

जयदेव—अच्छा तो आप विजयपुर कब आये ? और झगड़े का फैसला क्या हुआ ?

भूपसिंह—मैं कल संध्या को ही लौट के आया हूँ। झगड़ा अब नहीं रहेगा। निहालसिंह हमारी रियासत छोड़ने के लिये राजी है। परन्तु मित्र ! उस सिलसिले को न छोड़ दीजिये। महाराज विक्रमसिंह से और आपसे कोई विशेष वार्ता हुई हो, तो और सुनाइये।

जयदेव—और तो कुछ नहीं हुई। चलते समय उन्होंने विलास-

पुर आने के लिये आग्रह अवश्य किया है, तो अच्छा हुआ। आपकी भी उनसे भेंट हो जावेगी।

भूपसिंह—हाँ! अवश्य, और आपकी सगाई की बातचीत भी तय हो जावेगी। *बड़ी खुशी की बात है।

जयदेव - यह क्या जी कहाँ की सगाई ?

भूपसिंह—मानो आप कुछ जानते ही नहीं हैं-बड़े भोले हैं।

जयदेव—कुछ कहोगे भी ?

भूपसिंह—महाशय! छुपाइये नहीं, क्या आपसे महाराज ने यह नहीं पूछा कि "तुम्हारा विवाह हुआ है कि नहीं ?" और फिर चलते समय क्या विलासपुर आने का आमंत्रण नहीं दिया? तो अब इन दोनों को मिलाके समझ लीजिये क्या अभिप्राय निकलता है? आप तो नैयायिक पंडित हैं।

जयदेव—भाई! तुम्हें भी खूब हवाई किले बाँधना आता है, कहीं भाँग खाके तो नहीं आये हो ?

भूपसिंह—भाँग खाके मैं आया हूँ, या आप खाए हुए हैं, यह तो समय पर प्रगट होगा। परन्तु अब यह तो कहिये कि ससुराल नहीं विलासपुर कब चलियेगा, मैं जरूर आपके साथ चलूँगा।

जयदेव—(हंसके) जिस समय आप चलें मैं उसी समय तैयार हूं। इस प्रकार हास्यविनोद की वार्ता करते-करते भोजन का समय हो गया। भूपसिंह ने अभी तक स्नानादिक नहीं किये थे, इसलिये यह स्नानागार की ओर गया, और जयदेव विद्या मन्दिर में जाकर तब तक पुस्तकावलोकन में लगा।

× × ×

उचित होगा कि यहाँ पर जयदेव भूपसिंहादि के विषय में कुछ परिचय देकर पाठकों का सन्देह निवारण कर दिया जावे।

---

*यह बात जयदेव के एक सेवक ने आने के साथ ही भूपसिंह को सुना दी थी।

विलासपुर से दक्षिण की ओर अनुमान २० कोस पर विजयपुर नगर है। विलासपुर के समान यह भी समुद्र तट पर बना हुआ है, इस कारण विलासपुर से विजयपुर आने के लिये जल तथा स्थल दोनों मार्गों से लोग आ जा सकते हैं। बीच में एक सूर्यपुर छोटा सा राज्य है। सो आने जाने वालों को सूर्यपुर राज्य की सरहद पर से जाना पड़ता है।

विजयपुर विलासपुर का मित्र राज्य है। और विस्तार आदि में प्राय: उसके बराबर है। यहाँ के राजा रणवीरसिंह बड़े प्रताप तेजस्वी और प्रजावत्सल क्षत्रिय हैं। इस समय उनकी आयु ५० के अनुमान है। कुछ कम १२ वर्ष पहले उनकी महाराणी धारिणी अपने एक मात्र पुत्र भूपसिंह को छोड़कर परलोक को कूच कर चुकी थी परन्तु उसके पीछे जितेन्द्रिय महाराज ने दूसरा विवाह नहीं किया। पुत्र की शिक्षा दीक्षा में ही उन्होंने तन, मन, धन से परिश्रम किया। इस समय भूपसिंह की आयु २४ वर्ष के अनुमान है। वह पिता की शिक्षा से ऐसे साँचे में ढाला गया है कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ राजाओं में जो गुण आवश्यक हैं, वे सब इस समय उसमें वर्तमान हैं। राजनीति, धर्मनीति, युद्ध-नीति, समाजनीति आदि सम्पूर्ण विषयों में वह असाधारण ज्ञान रखता है।

इसके अतिरिक्त काव्य, कोष, व्याकरण, न्यायादि विषयों में भी उसका अच्छा प्रवेश है। वह इस समय राज्य का कार्य बड़ी कुशलता से चलाता है। महाराज रणवीरसिंह उदासीन वृत्ति धारण किये हुए एकान्तवास सेवन करते है। अभी तक भूपसिंह का विवाह नहीं हुआ है।

विजयपुर में एक श्रीचन्द्र नामक प्रसिद्ध धनाढ्य है। उनके यहाँ जवाहिरात का व्यापार होता है। कहते हैं श्रीचन्द्र के पिता एक सिपाही के वेष में विजयपुर में आये थे, और उन्होंने एक जौहरी की दुकान पर नौकरी की थी। उसी नौकरी में अपनी ईमानदारी और तीक्ष्ण बुद्धि से उन्होंने इतनी सफलता प्राप्त की कि थोड़े समय में वे

एक अद्वितीय रत्नपरीक्षक हो गये। और उसके द्वारा उन्हें लक्षावधि द्रव्य प्राप्त हो गया। श्रीचन्द्र उन्हीं के सुयोग्य पुत्र हैं।

श्रीचन्द की विद्यादेवी नामक सुयोग्य गृहिणी से जयदेव और विजयदेव नाम के दो प्यारे पुत्र उत्पन्न हुए हैं। जयदेव की आयु २० वर्ष और विजयदेव की १८ वर्ष के अनुमान है। छोटे पुत्र विजयदेव ने सामान्य विद्याभ्यास करके व्यापार कार्य की ओर चित्त लगाया है। परन्तु ज्येष्ठ जयदेव विद्याभ्यास में अब भी अहर्निश दत्तचित्त रहता है। आजकल वह पाठशाला का अभ्यास पूर्ण करके एकान्त में पठित विषयों का मनन करता है। जिस बंगले का वर्णन ऊपर आ चुका है, वह जयदेव ने इसीलिये (विद्याभ्यास के लिये) तैयार करवाया है। जयदेव की राजकुमार भूपसिंह के साथ असाधारण मैत्री है। संसार में वे एक दूसरे के अनन्य मित्र हैं।

जयदेव जन्म से ही दयालु-हृदय और शांत-प्रकृति के हैं। विजयपुर निवासियों ने उसे कभी किसी से लड़ते झगड़ते अथवा कटुवचन कहते नहीं सुना। किसी को रोते पीटते देखकर उसे बड़ा त्रास होता था। एक बार एक निरपराधी जीवों को पिटते देखकर उसे मूर्छा आ गई। थी कहते हैं, सुयोग्य महाराज रणवीरसिंह के कान तक जब यह बात गई, तब उन्होंने उसी दिन अपने पुत्र भूपसिंह को जयदेव के साथ रहने का आदेश दे दिया।

भूपसिंह को आखेट का शौक था परन्तु क्षत्रिय धर्म किसे कहते हैं ? इस विषय पर अवसर पाके जब जयदेव ने एक व्याख्यान सुनाया, तब भूपसिंह के टपटप आँसू पड़ने लगे, सिर नीचे से ऊपर नहीं किया गया। उसी समय उसने निरपराधी जीवों को न सताने की प्रतिज्ञा करली। गुणज्ञ भूपसिंह उसी दिन से जयदेव को आदर की दृष्टि से देखने लगा।

कुछ दिन पहले विजयपुर और सूर्यपुर के सीमा प्रान्त के कुछ ग्रामों के विषय में असमंजस हो गया था, परन्तु सचतुर रणवीरसिंह ने अपनी उपेक्षा से, उस समय दबा दिया था। तो भी वह दब न

सका। सूर्यपुर के राजकुमार उदयसिंह की करतूत से विरोधाग्नि धधक उठी और आखिर भूपसिंह को सूर्यपुर पर चढ़ाई करनी पड़ी। फल यह हुआ कि घोर युद्ध के पश्चात् उदयसिंह और महाराज निहालसिंह कैद कर लिये गये। इसी लड़ाई में विजय पाकर भूपसिंह जयदेव के बंगले पर गया था, जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

चौबीसवाँ पर्व

जयदेव को देखते ही चित्त कहने लगता है कि वह कोई क्षत्रिय पुत्र है। उन्नत ललाट, विशाल वक्ष स्थल, प्रलम्ब भुजायें, सुदृढ़, सुपुष्ट शरीर और प्रफुल्ल मुखमण्डल आदि उसके असाधारण पराक्रमी और प्रतापी होने के स्पष्ट लक्षण है। कैसा ही अनुभवी और चेष्टा परीक्षक क्यों न हो वह एकाएक जयदेव को वणिक् पुत्र कहने में अचकचा जावेगा, इसलिये मुझे उसके वणिक् होने में विश्वास नही होता। जान पड़ता है कि उसके जीवन में किसी कारण से क्षत्रियत्व का रहस्य गुप्त रक्खा गया है। परन्तु नही, वह वणिक् ही क्यों न हो, अब तो सुशीला का भाग्य उसके हाथ में समर्पण किया जावेगा। नीति में कहा है कि अयोग्य वर को कन्या देने की अपेक्षा उसे एक कुए में पटक देना अच्छा है। इसलिये सुयोग्य वर की अप्राप्ति में यदि सुशीला का पाणिग्रहण एक परम सुयोग्य वणिक् के साथ जिसमें कि सम्पूर्ण क्षत्रिय पुत्रोचित लक्षण मिलते है, कर दिया जावे, तो कोई अन्याय नहीं होगा। यद्यपि ऐसे सम्बन्ध से लोग विरोध करेंगे, परन्तु पिता के यथार्थ कर्तव्य की पूर्ति ऐसा किये बिना हो नही सकती। जयदेव जैसा वर मिले बिना मेरी प्राणाधिक प्रिय सुशीला सुखी नहीं हो सकती।

मैं अनेक राजकुमारो को देख चुका हूँ, परन्तु अभी तक उनमें से किसी ने भी मुझे सन्तोष नही पहुँचाया है। उन सबमें बहुत थोड़े और विरले गुण पाये गये है। परन्तु जयदेव के गुणों की गिनती नहीं हो

सकी। एक दया ही उसके हृदय में ऐसी शक्तिशालिनी और सुन्दर है कि अन्य गुणों की उसमें अपेक्षा ही नहीं है। वीरपुरुष का उन्नत हृदय ऐसी दया से शोभायमान रहना चाहिये, जिसका कि जयदेव ने मुझे उपदेश दिया था और जिसे वह स्वयं अहर्निश धारण किये रहता है।

उस रात जयदेव के वार्तालाप में तर्क बुद्धि की प्रखरता, काव्य की रुचिरता, और व्यवहार-कुशलता के साथ साथ राजनीति की जैसी योग्यता प्रकट हुई थी, वैसी योग्यता वर्तमान में अन्य किसी राजकुमार में भी प्राप्त होगी, यह कल्पना मात्र है।

ऐसी अवस्था में मैं अपने विरोधियों से पूछ सकता हूं कि जिस पुरुष पुङ्गव में सम्पूर्ण क्षत्रिय-गुण पाये जाते हों, वह वणिक् क्षत्रिय क्यों नहीं है ? और अनेकान्त-मत के मानने वाले हम लोग क्या एकान्तपूर्वक जन्म से ही वर्ण मान बैठेंगे, गुणकर्मों से नहीं ? इसके अतिरिक्त अनेक प्राचीन कथाओं के ऐसे प्रसंग सुने जाते हैं, जिसमें राजकन्याओं का सुयोग्य वणिक्पुत्रों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध हुआ है। फिर मेरे इस कार्य में ही विरोध क्यों किया जाता है ?

परन्तु प्रत्येक कार्य जहाँ तक हो, लोक को अपने अनुकूल बनाकर ही करना चाहिये। इसलिये इस कार्य में अभी से इतनी शीघ्रता करनी ठीक नहीं है। शान्तिता के साथ अपने गुरुजनों और मंत्री सुहृद्गणों में यह विषय उठाकर अपना अभिप्राय उन्हें समझाना चाहिये। संभव है कि अपनी सुयोग्य युक्तियां उनके चित्तों पर प्रभाव डाल के अपने इष्ट साधन में समर्थ हो जावें।

इसके अतिरिक्त अभी उस ओर से भी सर्वथा निराश नहीं होना चाहिये। विजयपुर को जो सवार चिट्ठी लेकर दौड़ाये गये हैं, क्या आश्चर्य कि वे ही अपने अभिलषित उत्तर को लेकर आवें और इन नाना चिन्ताओं के स्थान में आनन्द का स्रोत बहाने लगे।

एक चिन्ता सुशीला की माता की थी, परन्तु अच्छा हुआ कि वह निवृत्त हो गई। मेरा अभिप्राय वे समझ गई, और जयदेव को

जामाता बनाने में राजी हो गई। बेचारी स्त्रियों की बुद्धि ही कितनी ! नहीं रहा गया, अन्त में पूछ ही बैठी कि जयदेव का पिता कितना बड़ा धनी है, परन्तु बड़ी खैर हुई कि जयदेव किसी कंगाल का पुत्र नहीं हुआ। अन्यथा यहाँ बड़ी कठिनता पड़नी।

क्या ही अच्छा हो, यदि जयदेव इस समय जैसा कि उसने स्वीकार किया है, यहां आ जावे, और सब लोग उसे समक्ष में देखकर मेरे विचारों का तत्त्व समझ जावें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उसके मिलाप से सब ही आप्तवर्ग मेरे अनुमोदक हो जावेंगे, और तब मेरी अभिलाषा के पूर्ण होने में कुछ भी विलम्ब न होगा।

अस्तु, अब रात बहुत बीत गई है। आज का सारा दिन इसी प्रकार की नाना चिन्ताओं में गत हुआ है। उचित है कि कुछ विश्राम कर लिया जाय। यदि उदय अच्छा है तो श्रीजी की कृपा से कल ही इन सब चिन्ताओं का अवसान हो जावेगा।

इस प्रकार विचार तरंगों का अवरोध करके महाराज विक्रमसिंह उस दिन की थकावट मिटाने के प्रयत्न में लगे। उस समय सारा संसार निद्रा के यौवन कानन में विहार कर रहा था। निजत्व को तो पहले ही भूला हुआ था। इस समय एक प्रकार से परत्व-ज्ञान को भी खो चुका था।

दूसरे दिन आठ बजे के अनुमान राजभवन के एक साफ सुन्दर कमरे में खास बैठक की व्यवस्था की गई। महाराज, उनके वृद्ध और दूरदर्शी काका, मंत्री, पुरोहित और चुने हुए दो चार मुख्य राज्य कर्मचारी आदि खास-खास पुरुष एकत्र हुए। सबके स्वस्थचित्त होकर बैठ जाने पर महाराज विक्रमसिंह ने थोड़े से शब्दों में अपना इस प्रकार अभिप्राय प्रकट किया कि राजकन्या सुशीला जिसे कि आप लोग सरस्वती कहके पुकारते हैं, व्यवहार प्राप्त हो चुकी है, इसलिये उसका विवाह करना आवश्यक है। विवाह संबंध से दो प्राणियों के बहुमूल्य जीवन के सुख दुःखों की डोरी परस्पर जोड़ी जाती है, इसलिये यह कार्य मेरी समझ में अतिशय विचारणीय तथा उत्तर-

दायित्व का है। और आप लोग इस विषय में मेरी अपेक्षा विशेष अनुभवी और दूरदर्शी हैं, इसलिये मैं चाहता हूँ कि इस विषय में जो कुछ किया जावे, आप लोगों के विशेष परामर्श से किया जावे।

सुशीला जैसी सुशील और विदुषी कन्या के लिये बहुत दिन की शोध के पश्चात् मैंने एक वर खोजा है, बाहिरी रूपलावण्य वेषविन्यास के समान जिसका अन्तरङ्ग भी अतिशय सुन्दर है। विद्वत्ता, शूरता, उदारता, दूरदर्शिता, सहनशीलतादि सब ही लोकोत्तर गुणों ने उसके हृदय को अपना निवास स्थान बनाया है। परन्तु इस प्रकार क्षत्रियों के योग्य सम्पूर्ण लक्षण होने पर भी उसने अपने को वणिक्पुत्र बतलाया है, यह एक चिन्तनीय बात उपस्थित हुई है। इसलिये अब आप लोगों से सम्मति माँगता हूँ कि यह कार्य कुछ अनुचित तो नहीं होगा ?

पुरोहित—राजन्! वर के गुणों की ओर विचार करते हुए यद्यपि आपका विचार अनुचित नहीं जान पड़ता, परन्तु लोकमर्यादा और आचारग्रन्थों की आज्ञा से यह विरुद्ध नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

मंत्री—पुरोहितजी का कहना ठीक है, परन्तु जिस कुमार की महाराज ने प्रशंसा की है, वह वणिक् है न कि वैश्य। इसलिये यदि जन्म की अपेक्षा वर्णव्यवस्था माननी ठीक है, तो वणिक्वृत्ति से उसको वैश्य मान लेना सन्देह से शून्य नहीं है। और यदि गुणकर्मों की अपेक्षा वर्णव्यवस्था है, तो उस कुमार के क्षत्रिय होने में जैसा कि महाराज कहते हैं, कुछ सन्देह ही नहीं है।

पृथ्वीसिंह—(महाराज के वयोवृद्ध काका)—विक्रमसिंह! इस वादविवाद के पहले तुम्हें उस कुमार का परिचय देना चाहिये कि वह कहाँ का है और किसका पुत्र है? और यदि उसके वर्णविषय में तुम्हें सचमुच सन्देह है, तो सेवक भेजकर पहले उसे मिटा लेना चाहिये।

विक्रमसिंह—(हाथजोड़कर) महाराज ! वह विजयपुर के श्रीचन्द्र नामक वणिक् का पुत्र है। बस इतना ही परिचय मुझे उसके विषय में मिला है। परन्तु आपकी इच्छानुसार विजयपुर को मैं सेवकों को भेज चुका हूँ। वे लोग आते ही होंगे।

पुरोहित—उनके द्वारा उस कुमार की जन्मपत्रिका आदि आपने मंगाई ही होगी। क्योंकि विवाह सम्बन्ध में तद्विषयक विचार भी अत्यावश्यक कार्य है। वर और कन्या की जन्मकुण्डली से जब तक यथोचित विधि न मिला ली जावे तब तक वह विवाह सम्बन्ध सुखकर नहीं होता।

विक्रमसिंह—परन्तु यह कार्य पीछे का है। मैंने विजयपुर नरेश से केवल उसके वर्णकुलादि विषय में पूछा है। वह सचमुच क्षत्रिय-पुत्र है जब तक यह निर्णय न हो ले, तब तक अन्य बातों की चर्चा करनी मैंने उचित नहीं समझी।

मन्त्री—परन्तु मेरी समझ में इस समय यदि किसी बहाने से वह कुमार यहाँ बुला लिया जावे, तो अच्छा होगा। ये सब लोग उसे समक्ष में देखकर आपकी सम्मति के बहुत कुछ अनुगामी हो जावेंगे।

विक्रमसिंह—ठीक है। कुमार ने मुझ से यहाँ शीघ्र ही आने का वादा किया है, तथा आज सेवक और भी लेने के लिये भेज दो। शेष विचार पीछे होगा।

मंत्री—जो आज्ञा।

पच्चीसवां पर्व

पाठक ! आइये, आज हम आपको एक रमणीय बगीचे की सैर करावें, जो विलासपुर के पूर्व की ओर बना हुआ है। इसके आसपास एक सुदृढ़ परिखा बनी हुई है, जिसे लांघकर वायु का भी साहस भीतर जाने का नहीं पड़ता। भीतर जाने के लिये केवल एक ही द्वार

है, जहाँ पर शस्त्रधारी सिपाहियों का सदा पहरा रहता है। किसी परिन्दे की मजाल नहीं, जो विना आज्ञा पर मार जाय। वह द्वार रमणीय पत्थर का बना हुआ है, जिस पर किसी चतुर शिल्पकार ने सुन्दर बेलें खोदी है, जो देखने में ऐसी जान पड़ती हैं, मानो पत्थर साथ ढालकर निकाली गई हैं। उसमें जो पच्चीकारी के फल बने हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं कि मानो माली ने अभी-अभी तोड़कर लगाये हैं। किवाड़ों पर भी नक्शागिरी का काम देखने वालों को चकित करता है ये किवाड़ चन्दन के हैं, जिन्हें खोलने पर उद्यान में प्रवेश होता है। प्रवेश करते ही एक संगमरमरका बना हुआ विशाल प्राङ्गण मिलता है, जो दूर से ऐसा भासता है, मानों दूध का सरोवर भरा हो। बीच-बीच में चतुर कारीगरों ने लाल पत्थर के (लाल वर्द के) फूल ऐसी खूबी के साथ बनाये हैं, कि उन्हें देखकर असली कमलों का धोखा हो जाता है। आँगन के आस-पास करीने से छोटी-छोटी हरी दूब जमाई है जिसके बीच-बीच में छोटे-छोटे वृक्षों के गमले रक्खे हुए हैं। खिले हुए फूलों पर रंग बिरंगी मक्खियां उड़ती बैठती हुई एक अलौकिक छटा उत्पन्न कर रही हैं।

समीप ही एक तालाब से लाई हुई नहर बह रही है, जिसके दोनों किनारे पक्के बन्धे हुए हैं और एक प्रकार की सुन्दर फूल और पत्ते वाली लता से ढके हुए हैं। सारा बगीचा इसी से सींचा जाता है। नहर के उस पार बड़े-बड़े मेवेदार वृक्षों की श्रेणी है। बगीचे में घूमने के लिये जो छोटे-छोटे मार्ग हैं, उनके दोनों ओर नन्हीं-नन्हीं हरी सुकोमल घास लगाई गई है, और उनके पश्चात् जुही, मालती, बेला, गुलाब, चमेली आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों की क्यारियां बनी हैं। नहर से नल लगाकर बगीचे के चारों कोनों पर चार बड़े-बड़े हौज फव्वारा लगाकर बनाये गये हैं, जिनके किनारों पर सुन्दर संगमरमर की बैठकें बनी हुई हैं। कभी-कभी यहाँ बैठकर महाराज विक्रमसिंह की प्यारी कन्या सुशीला प्रकृति की शोभा को देखती हुई संसार की विचित्रता का अनुचिंतन करती है। वह किसी भी पुष्प

अथवा उसकी कलिका को हाथ में लेकर विचारसागर में घण्टों गोते लगाया करती है। वह सोचने लगती है कि देखो कल जिसे निरा-कली देखा था, आज वही अर्धखिली कलिका है और कल यही फूल कर परसों धराशायी होकर धूलिशात हो जावेगा, फिर न कली का पता लगेगा और न पुष्प का।

सुशीला के विचार अत्युत्कृष्ट हैं। वह प्रत्येक बात में से जो सिद्धांत शोध के निकालती है, व कुछ अपूर्व ही होते हैं। वह यद्यपि अभी अविवाहित है, परन्तु विवाहित स्त्रियों का क्या धर्म है, उसे वह भली-भाँति जानती है। कुलीनवंशोद्भव पतिपरायणता स्त्रियों के धर्म का उसे खूब परिचय है। क्षमा, शील, सन्तोप प्रभृति धर्मों ने उसके हृदय को अपना विश्रामास्पद बना लिया है। साँसारिक नाना प्रपंचों के समीप ने उसके शरीर को कभी स्पर्श भी नहीं किया।

आज वही सरस्वती सुशीला अपनी रेवती आदि सखियों के साथ इस उद्यान में क्रीड़ा करने को आई है। नहर के किनारे टहलते-टहलते रेवती ने चंद्रिका से कहा, चन्द्रिके! इस पारावत की जोड़ी को तो देख, प्रमोदमग्न हुई कैसा नृत्यसा करती है और कछ अस्पष्ट शब्दों के कहने को गला फुला रही है।

चन्द्रिका—सखी! क्या तू नहीं जानती, वह अपनी जीवन मूर्ति सुशीला को बधाई देने के लिये उत्सुक और प्रफुल्लित हो रही है।

सुशीला—क्या कहा चन्द्रिके! कैसी बधाई?

रेवती—(बात काट के) इधर देखिए इधर! यह दूसरी जोड़ी आपके आगमन की मानो प्रतीक्षा में है।

सुशीला—भला वह पक्षी जाति के सीधे साधे जीव मेरे आगमन की प्रतीक्षा क्यों करने लगे?

चन्द्रिका—(रेवती से) सखी! रहने भी दे, अभी इनके दूध के दाँत भी तो नहीं गिरे हैं। फिर ये भला इस धर्म को क्या जानें?

सुशीला—(मुस्कराकर) चन्द्रिके! तुझे मेरी शपथ है। सच सच बतला, मैं कछ नहीं समझी।

चन्द्रिका—हाँ ! आप क्यों समझने चलीं ? अब जब हम लोगों के भाग्य से पारितोषिक के मिलने का समय आया, तब आप स्वयं ही अनसमझ बनेंगी ।

सुशीला—(रेवती से) भला सखी ! तू यह बता दे, यह चन्द्रिका क्या बक रही है ?

रेवती—यही कल की बात ! बक क्या रही है, जिसे सरकार भी सुनकर मन ही मन खिल चुकी है ।

सुशीला—(समझकर और कुछ रूखा-सा मुँह बनाकर) चल रहने दे, तुझे सदा हँसी ही सूझा करती है ।

रेवती—क्यों क्यों सरकार ! क्या यों खफा होकर ही हमें टालना चाहती हो ? उसमें मेरा भी हक है ।

चन्द्रिका—और मेरा ?

सुशीला इसका और कुछ उत्तर न दे सकी । लज्जा से उसका सिर नीचा हो गया । परन्तु मुख मण्डल पर एक मन्द मुसकान की रेखा झलक आई ।

सुशीला ने सोचा था कि अब इतने में ही चुक जाऊँगी । परन्तु सखियां कब मानने वाली थीं, उन्होंने हंसी का दूसरा ढंग निकाला । रेवती जासूसी के कामों में बड़ी चतुर है और चन्द्रिका भी कुछ कम नहीं है । परन्तु चन्द्रिका रेवती से ठठोलपन में दो कदम आगे है ।

बेचारी भोलीभाली सुशीला एक कुसुममयी वनलतिका के समीप खड़ी-खड़ी पीले-पीले पत्ते चुन रही थी कि अचानक सामने से चन्द्रिका को थोड़ा सा घूंघट निकाले मुस्कुराते हुए आते देखा । सुशीला ने पूछा, क्यों क्या है ?

चन्द्रिका—वाह सरकार ! क्या देखती नहीं हो, विजयपुर वाले सेठजी आ रहे हैं ।

सुशीला ने जो लौटकर पीछे देखा तो एक नवयुवक को आते देखा । सिर पर छोटी सी कुसुमानी पगड़ी है, जिसमें मोतियों की सुन्दर कलङ्गी लगी हुई है । चमका हुआ जरदोजी के काम का रेशमी

अङ्गरखा और उस पर खासी महाजनी चाल का दुपट्टा पड़ा हुआ है। अंगूठे को छूने वाली नीची धोती सीधे जूता पहिने हाथ में एक फूलों का गुच्छा लिये हुए है। सुशीला देखते ही सहम गई। शरीर पसीने-पसीने हो गया। थोड़ी देर अवाक् सी हो रही। पश्चात् कुछ रूखी सी पड़के पुकार कर बोली, रेवती! रेवती! देख तो यह कौन ढीठ पुरुष इधर चला आ रहा है। एक अज्ञात पुरुष को यहाँ आने का कैसे साहस हुआ? और भला यह आया ही किस मार्ग से होगा? ठहरो, पिताजी से आज द्वाररक्षकों को कैसा इनाम दिलाती हूँ कि वे भी याद करें।

जब रेवती का न तो उत्तर मिला और न वह इधर उधर दिखाई दी और उस पुरुष को बराबर आगे बढ़ते हुए देखा, तब तो सुशीला डर के चन्द्रिका के पास दौड़ी। चन्द्रिका बोली—हैं! हैं! ऐसी भाग भाग कर कब तक रहोगी? यों भागती हो कि आदर स्वागत करके अपने अतिथि को प्रसन्न करती हो। सुशीला क्रोध करके बोली—चन्द्रिका! चुप रह। ये तेरी हँसी का समय नहीं है, रेवती को बुला वह कहाँ गई? इस असमसाहसी पुरुष को उसकी ढीठता का मजा चखावें और द्वाररक्षकों को बुला दे कि इसे पकड़ कर पिता के पास ले जावें। चन्द्रिका बोली—है! हैं! चुप भी रहो। ये मुझे विजयपुर वाले जैसे लगते हैं। कदाचित् पिताजी की आज्ञा से ही यहाँ आये होंगे अन्यथा किस की मजाल थी, जो यहाँ आता। अब जी खोलकर बातें कर लो और खोटा खरा भी परख लो जिससे पीछे पछताना नहीं पड़े।

यों चन्द्रिका बराबर छेड़ती जाती थी और सुशीला का भय बढ़ता जाता था। उसे एक बड़ा भारी भय यह लगा था कि कहीं उदयसिंह कोई चालाकी न करे। साथ ही रेवती के कथनानुसार बलवन्तसिंह के नौकर होकर विलासपुर में रहने का भय उसे कम न था। सुकुमार हृदय सुशीला के हृदय में अनेक संकल्प विकल्प उठकर उसे डरा रहे थे कि वह अज्ञात पुरुष पास ही आ खड़ा हुआ और बोला,—

देवकन्याओं ! आज्ञा हो तो (हाथ से इशारा करके) इस लता मण्डप के नीचे कुछ समय ठहर कर विश्राम ले लूँ। यह सुनके सुशीला तो मुँह फेर कर बैठ गई। उसका हृदय धकधक करने लगा। मुख मंडप पर स्वेदबिन्दु झलक आये, पाषाण हृदय चन्द्रिका को उसकी इस दशा पर कुछ भी दया न आई। बोली,—हां हां पथिक ! चैन से विश्राम लो। पर यह तो कहो कि आपका आगमन कहाँ से हुआ ?

आगन्तुक—विजयपुर से।

चन्द्रिका—आपके नाम का परिचय क्या हम लोग पा सकती हैं ?

आग०—मेरा नाम जयदेव है। मैं वणिक् पुत्र हूं। मार्ग भूल के यहाँ आ निकला हूँ। मुझे विलासपुर के महाराज के निकट जाना है। यहाँ थोड़ी देर ठहर के अपनी राह लगूँगा। कृपा करके आप लोग भी अपना परिचय मुझे देंगी।

चन्द्रिका—(हंसी को रोक के) हो तो बड़े भाग्यवान् ! आपका शकुन अच्छा हुआ। जिसे आप मार्ग भूलना कहते हो, सो देव ने हाथ पकड़ के आपको अभीष्ट स्थान तक पहुँचा दिया है। यह उद्यान उन्हीं महाराज की कन्या का है कि जिनके पाहुँने आप आये हैं। (सुशीला से) सखी ! रेवती जब तक आवे, तब तक इनका तू और नही तो वचनों से ही सत्कार कर।

सुशीला—(खीजकर) चन्द्रिका ! देख, आज मैं माता से कहकर तुझे और रेवती को कैसा दण्ड दिलाती हूँ। एक सर्वथा अपरिचित परपुरुष जान पड़ता है, तू या रेवती ही बुला आई होगी।

चन्द्रिका—लो भला ! अपनी बलाय पराये सर। तुम्हारे पिता ही बेचारे को बुला आये हैं और दण्ड दिलाने की धमकी मुझ पर ! अच्छा खैर विजयपुर पहुँचने पर तुम्हें आज की बात का उत्तर मिलेगा।

आगन्तुक—क्यों ये तुम्हारी कौन हैं, जो पीठ दिये बैठी हैं। क्या मेरे यहाँ आ निकलने से उन्हें कुछ खेद पहुँचा है ?

चन्द्रिका—महाशय ! यह विलासपुर नरेश की कन्या हैं। नाम इनका सुशीला "यथा नाम तथा गुण" है। और मैं इनकी दासी हूँ। माता की आज्ञा से यहाँ घूमने आई हैं।

आगन्तुक— इनके पिता तो बड़े उदार हैं, पर यहाँ तो संकीर्णता की पराकाष्टा है, जो एक गरीब मुसाफिर पर इतनी रुष्टता दिखला रही हैं।

इतना सुनकर सुशीला अत्यन्त रुष्ट होकर कुछ कहना ही चाहती थी कि उस नवयुवक ने अपने ऊपर का लिबास उतार कर फेंक दिया। जिसके फेंकते ही हँसता हुआ एक स्त्री का रूप निकल आया। और पास आके सुशीला के पैरों पर पड़ गया। सुशीला आश्चर्य विस्फारित नेत्रों से उसको देखने लगी।

पाठक ! यह स्त्री और कोई नहीं, वही रेवती थी, जो किसी कार्य का बहाना करके वहाँ से चली गई थी और फिर जयदेव का रूप धारण करके आई थी।

इसके पश्चात् वे तीनों हँसती हुई वहां से उठ खड़ी हुईं।

छब्बीसवाँ पर्व

संध्या हुई। वरुणदिशा के पास सूर्यदेव आये। देखते ही उसके गालों पर ललाई दौड़ आई। बड़े प्रेम से उसने उनकी गुलाल से अभ्यर्थना की। क्षितिजमंडल पर दूर दूर तक गुलाल ही गुलाल नजर आने लगी।

अस्ताचल पर्वत सूर्य देव को मस्तक पर धारण करके संसार को समझाने लगा कि जो निरन्तर परोपकार करने में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे क्षीणपुण्यी होकर भी महत्पुरुषों के द्वारा पूजे जाते हैं।

इस समय विलासपुर से नैऋत की ओर एक टीले पर कोई युवा खड़ा होकर विलासपुर की ओर अनिमिष नेत्रों से देख रहा है। जान

पड़ता है किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके हाथ में एक घोड़े की बागडोर है, जो पास ही कसा कसाया खड़ा है। और अपने मालिक का अनुकरण कर रहा है।

पूर्व दिशा की ओर से अन्धकार को दौड़े हुए आते देखकर सूर्यदेव यह कहकर अस्त हो गये कि मैं अपने रहते हुए इस संसार को इस मलिनात्मा से दुःखी नहीं देख सकता, प्रकाश लुप्त हो गया। पक्षीगण शोर मचाने लगे। मानों प्राणपति दिवानाथ के वियोग में दिगङ्गनायें रोने लगीं।

युवा को खड़े-खड़े बहुत समय हो गया। अतएव वह थककर यह कहता हुआ बैठ गया कि चलो थोड़ी देर और राह देख लूं कहीं ऐसा न हो कि मैं यहाँ से जाऊँ और पीछे बलवन्त आकर मेरे लिये दुःखी हो। वह अवश्य ही आता होगा। किसी कारण विशेष से ही अभी तक नहीं आ सका है।

थोड़े ही समय में अन्धकार ने सम्पूर्ण संसार को अपने रङ्ग रूप जैसा बनाकर स्पष्ट कर दिया "गुणदोषाः सदसत्प्रसङ्गजाः" अर्थात् गुण दोष सज्जन और दुर्जनों के प्रसंग से ही होते हैं।

इतने ही में किसी ने पीछे से आकर उस युवा के नेत्र अपने दोनों हाथों से बन्द कर दिये और एक बड़े जोर की हँसी हँसकर कहा "लो, मैं तुम्हारी इच्छा का पूर्ण करने वाला आ गया। अधीर मत होओ।" युवा ने समझा बलवन्त आ गया परन्तु बलवन्त की और इसकी अवाज में तो जमीन आसमान का फर्क है। तो क्या कोई दुश्मन मेरा भेद जानकर प्रतारणा के लिये आया है? इस प्रकार के विचार ने युवा को अधीर कर दिया। उसने बड़े बल के साथ उस पुरुष के हाथों को झटका देकर अलग कर दिया और सम्मुख होकर कहा—कौन बलवन्त? आगत पुरुष ने हँस करके कहा, हाँ।

अन्धकार के आने के पश्चात् ही तारागण ऐसे दिखलाई देने लगे, मानों मित्र (सूर्य) वियोग के दारुण दुःख से आकाश मण्डल से आँसुओं के चमकते हुए बिन्दु झड़ रहे हैं। उन्होंने अन्धकारमय संसार

में थोड़ा सा प्रकाश कर दिया। युवा ने तारागणों के प्रकाश में देखा, हाँ करने वाला बलवन्त नहीं है, एक विकटाकार पुरुष है, जिसकी हाथ भर की लम्बी सफेद दाढ़ी लटक रही है। सिर पर एक बड़ा भारी सफ़ेद फैंटा बन्धा हुआ है। सारा शरीर नीचे से ऊपर तक एक सफेद चादर से ढ़का हुआ है। युवा विस्मित होकर उसकी ओर ज्यों-ज्यों घूर के देखता था, त्यों-त्यों वह सफ़ेद पोश उसे चिढ़ाने के लिये बार-बार हँसता था। आखिर युवा ने तलवार खीच ली और कड़क के कहा, सच-सच बता तू कौन है? नही तो तेरी ढिठाई का तुझे अभी मजा चखाता हूँ।

सफेद पोश—(निडर होकर) मजा चखोगे तो आप मै तो यों ही उल्टी सीधी सुनूंगा और मेहनत करूंगा।

युवा—(गुस्से में) तो क्या तू मुझे मजा चखावेगा?

सफेद पोश—(मुस्कराते हुए) जी हाँ!

युवा—आखिर तेरा नाम क्या है?

सफेद पोश—वही, जो आपने लिया था!

युवा—मैं तुझ जैसे पिशाच का नाम क्यों लेने लगा?

सफेदपोश—एक बार क्या आप तो नित्य हजार बार लेते है?

युवा—मुझे मालूम पड़ता है, धोखा देकर तू बलवन्त बनना चाहता है। परन्तु पहले जरा अपनी शकल तो देख तब यह होंसला करना।

सफे०—मैं अपनी शकल तो देखता हूँ, परन्तु हुजूर भी तो जरा अपनी ओर होश सम्हाल के देखें।

युवा ने घबड़ा कर आश्चर्य से ज्यों ही अपनी ओर देखा, त्यों ही वह विकट पुरुष अपने ऊपर ऊपर के चादर और फैंटा फेंक के खड़ा हो गया। फेंटे के साथ ही दाढ़ी भी न जाने कहाँ चली गई। युवा ने फिर से, देखा तो उसके सामने उसका मित्र बलवन्तसिह खड़ा हुआ मुस्करा रहा है। युवा आश्चर्यान्वित होकर बोला हैं! बलवन्त! तुम कहाँ थे, मैं तो तुम्हारे लिये बड़ा व्यग्र हो रहा था।

बलवन्त—मैं तो हुजूर के सामने कभी का खड़ा हूँ, परन्तु मेरे आगे एक बुड्ढा खड़ा था, इससे शायद आपकी नजर मुझ पर नहीं पड़ी होगी। देखिये! अब मैंने उस बुड्ढे की क्या दशा की है, वह जमीन पर पड़ा हुआ मिसक रहा है। आप से गुस्ताखी करने का मजा उसे मिल चुका है।

युवा—(लज्जित होकर, हँसते हुए) भाई बलवन्त! तुम्हारी छोटेपन की शरारत अभी तक नहीं गई। आज तो तुमने मुझे खूब ही छकाया। परन्तु तारीफ है, मैं बिल्कुल नहीं पहचान सका। वाह! उस वक्त तुम बोली भी क्या विचित्र प्रकार की बोले थे। पर यह तो कहो कि तुम अभी कहाँ से आ रहे हो? मैं तो विलासपुर की ओर न जाने कब से टकटकी लगाये बैठा हूँ।

बलवन्त—ठीक है आप विलासपुर की ओर टकटकी न लगायेंगे, मुशीला देवी का ध्यान न करेंगे, तो भक्त पुरुषों की श्रेणी में से आप का नाम ही न निकाल दिया जावेगा? मैं विलासपुर की ओर से ही आ रहा हूँ, परन्तु सीधा मार्ग छोड़कर जिसमें कोई पहचान न सके, यहाँ टीले के नीचे से आपको देखकर मुझे आपको छकाने की सूझ आई, इससे चक्कर लगाकर पीछे की ओर से आ खड़ा हुआ था। पर आपका ध्यान भङ्ग नही हुआ।

युवा—(प्रसन्न होकर) अस्तु। अब यह कहो, तुमने इतने दिन विलासपुर में रहके क्या किया और अपनी इष्ट सिद्धि में क्या विलम्ब है?

बलवन्त—यह तो आप मेरी चिट्ठी से जान ही चुके है कि मैं विक्रमसिंह का अत्यन्त विश्वासपात्र नौकर हो चुका हूँ और उनके दरबार में निरन्तर रहता हूँ, तब से अब तक मैं अहर्निशि इसी प्रयत्न में रहा हूँ, किसी प्रकार से आपकी प्यारी मुशीला गायब कर दी जावे परन्तु इस तरह से कि महाराज को किसी प्रकार से हम लोगों पर सन्देह न हो कि यह शरारत उदयसिंह की है। नहीं तो वे सूर्यपुर राज्य को गारत कर डालेंगे। सूर्यपुर राज्य में अभी इतना बल नहीं

है कि वह विलासपुर से विरोध कर सके। सिवाय इसके यदि आपके पिता को (निहालसिंह को) आपका यह चरित्र मालूम हो जावेगा तो और बड़ी विपत्ति आवेगी। इन सब बातों को सोच कर मैंने अनेक प्रयत्न किये और वे सिद्ध भी हो जाते, परन्तु अफसोस है, उस हराम-जादी रेवती के मारे सब पर पानी फिर गया। विलासपुर में एक रेवती ही ऐसी है, जो मुझ से चौकन्ना रहती है। और जानती है कि यह कुछ दगा करेगा! अन्य सब ही मुझे राज्य का सच्चा शुभचिन्तक समझते हैं। और तो क्या आपकी प्राणप्यारी सुशीला भी मुझे विश्वस्त समझती है, और रेवती को मेरी ओर से सशंकित रहते देख उसे चिढ़ाया करती है। यदि रेवती को मैं अपने हाथ में ले पाऊँ, तो सम-झिये 'पौबारह' हैं। वह ऐसी विचित्र जासूस है कि पत्ते के खड़कने से भी चौकन्ना हो जाती है। उस दिन मैंने हरिहर को आपके पास एक चिट्ठी लेकर भेजा था कि उसने रास्ते में ही गिरफ्तार कर लिया। न जाने उसे उस पर क्यों सन्देह हो गया। बड़ी खैर हुई कि वह चिट्ठी उसके हाथ नहीं पड़ी। हरिहर अपनी चतुराई से उसे स्वयं निगल गया और बड़ी सफाई के साथ बच गया। इस तरह अपने मार्ग में एक वही कांटा बन रही है। पर क्या चिन्ता है, मैं रेवती की सब चालाकियों का बदला एक ही दिन में चुका दूँगा।

उदयसिंह—(एक दीर्घ निःस्वास लेकर) अफसोस, बलवन्त! न जाने तुम कब बदला चुकाओगे। मैं अभी तक तुम्हारे ढाढस से ही जी रहा हूँ। आज मुझे बड़ी उम्मीद थी कि तुम कोई ऐसी बात सुना-ओगे, जिससे मैं फूला अंग नहीं समाऊँगा। परन्तु तुम्हारी बातों से तो उलटे मेरे हाथ पैर टूट गये। हाय! अब निश्चय हो गया कि प्यारी सुशीला के सौन्दर्य-यज्ञ में मेरा निःसन्देह हवन होगा। अब ये प्राण अपनी प्यारी का वियोग अधिक समय तक सहन नहीं कर सकेंगे। अब तो एक-एक दिन कल्पकाल जैसा बीतता है। "हा! हन्त प्रमदा-वियोगसमयः कल्पान्तकालायते" कहाँ तक धैर्य धारण

किया जावे। (आँखों में आँसू लाकर) हाय ! सुशीले ! तुम्हारी उस दिन की दोला क्रीड़ा वाली छवि यद्यपि सुहावनी और मनोहरी थी, और इसलिये वह हृदय में धारण की गई थी, परन्तु उससे चित्त को शान्तिता मिलने के बदले उत्ताप मिल रहा है ! यदि मैं यह जानता कि तुम्हारे जगन्मनोहारी रूपा मृग का पान करने से आनन्द के स्थान में दाह उत्पन्न होगा, तो मैं उस उद्यान में एक क्षणभर भी खड़ा नहीं रहता। यदि कामदेव तुम्हारी रूपराशि का सचमुच रक्षक हुआ है, और मैंने उस रूपराशि को अपने हृदय से लगाने की इच्छा की थी, इस कारण वह कुपित होकर अपने पंचबाणों से मेरे हृदय को जर्जर कर रहा है, तो अब कृपा करके उसे रोक दें। मैं उन बाणों को सहने के योग्य नहीं हूँ। मेरा जीना अब कठिन है। इस संसार में अब मेरा कोई सहायक नहीं है। प्यारे बलवन्त ! एक तुमसे आशा थी, परन्तु अफसोस ! तुमसे भी कुछ नहीं हुआ। बस, मेरा डेरा कूच है। जब प्यारी सुशीला ही नहीं मिली, तो अब ससार में जी कर क्या करना है ?

बल०—(हाथ पकड़ कर) उदयसिह जी ! आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं ? मेरे जीते जी आपको इस प्रकार दुर्दशा के चक्कर में नहीं पड़ना होगा। आप शीघ्र ही अपनी प्यारी को पाकर प्रसन्न होंगे। बहुत करके इसी महीने में उसका विवाह हो जावेगा और वह अपनी ससुराल को विजयपुर चली जावेगी। फिर वहाँ (विजयपुर में) हम बड़ी सरलता से अपना काम कर सकेंगे।

उदय०—(एक और बड़ी आह खींचकर) हाय ! तो क्या अब सुशीला किसी दूसरे की हो जावेगी ? बलवन्त ! पत्थर पड़े, तुम्हारी समझ पर। तुम्हें ऐसी दशा में भी आशा नहीं छोड़ती ? अफसोस !

बलवन्त०—अच्छा, तो मैं आशा से पीछा छुड़ाये लेता हूँ, अर्थात् निराश हुआ जाता हूँ। चलिये आप भी अपने घर चलकर आनन्द कीजिये। सुशीला तो दूसरे की होती ही है।

उदयसिंह—प्यारे मित्र ! इस तरह ताने मारकर मुझे दुःखी मत

करो। अभी मैं इस योग्य नहीं हूँ। इस समय ऐसी सलाह दो, जिससे मेरे सन्तप्न चित्त को कुछ शांतिता मिले। क्या विवाह मुहूर्त के पहले हम लोगों के लिये कोई ऐसा प्रयत्न नहीं हो सकता कि वह दु:खकर विवाह ही न होवे। अथवा जैसा तुम कहते हो, विवाह होने पर क्या विजयपुर से हम अपने मनोरथ को सफल कर सकेंगे, ऐसी पूर्ण आशा है ?

बलवन्तसिंह—मित्रवर ! परिश्रम करने से जो कुछ होगा, उसमें तो किसी प्रकार की कमी की नहीं जावेगी, यथासाध्य करूँगा ही। तो भी विलासपुर के रङ्ग ढङ्ग देखकर सफलता की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु विजयपुर पहुँचने पर तो निश्चय ही समझिये। वहाँ पर मैंने एक ऐसे मौके की बात सोच रक्खी है कि उसमें कोई विघ्न ही नहीं आ सकता। सुशीला आपके घर आ जावेगी, और किसी को गुमान भी नहीं होगा कि वह कहाँ गई। फिर क्या है, आपको विहार के लिये इन्द्रकानन मिलेगा, मुझे धन्यवादों का ढेर।

उदय०—(प्रसन्नता से बलवन्त को हृदय से लगाकर) प्यारे मित्र ! क्या वह दिन मुझे इस जीवन में प्राप्त होगा ?

बलवन्त० - अवश्य ही होगा, बहुत शीघ्र होगा। (कुछ सोचकर) अच्छा तो अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये। क्योंकि मैं किसी से कुछ बिना कहे सुने ही चला आया हूं। ऐसा न हो कि मेरी ओर से किसी को कुछ सन्देह करने का अवकाश मिल जावे। हाँ ! एक बात आपसे पूछने को रह गई। मैंने सुना था कि आपको विजयपुर नरेश ने कैद कर लिया था। क्या यह सच है ?

उदय०—हाँ ! वही सीमा प्रान्त का झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। आखिर उसका निबटारा हो गया। दूसरे दिन ही संधिपत्र पर हस्ताक्षर करके हम लोग सूर्यपुर लौट आये थे। किन्तु मित्र ! यदि जीते रहे, तो भूपसिंह से इस कैद का बदला अवश्य ही चुकावेंगे। बड़े धोखे से उसने हमको कैद किया था, नहीं तो बेचारे की क्या ताकत थी, जो मेरे सामने आता। अस्तु, इस विषय में तुमसे बहुत कुछ बातचीत

करना है, जो कभी समय पर करूंगा। अभी तुम्हें समय नहीं है। जाओ। परन्तु अब आगे कब और कहाँ मिलोगे, इसकी प्रतिज्ञा किये जाओ। तुमसे मिलने से मुझे बहुत कुछ धीरज बंध जाता है।

बलवन्त०—अच्छा तो लीजिये जुहारु, मैं जाता हूँ। इसी टीले पर फिर मिलूंगा। समय की सूचना और उस ओर के सब समाचार आपको हरिहर के द्वारा ही मिला करेंगे।

इसके पश्चात् दोनों मित्र एक दूसरे दिन से विदा हुए। कृष्ण तृतीय का चन्द्रमा पूर्व दिशा की ओर से आरक्त वर्ण धारण किये हुए निकल आया। दोनों पापी और मलिनात्माओं के साथ-साथ अन्धकार भी वहाँ से खिसकने की तैयारी में लगा।

सत्ताईसवाँ पर्व

दिन के ११ बज चुके हैं। विलासपुर नरेश का दरबार भरा हुआ है। सब लोग यथास्थान बैठे हुए अपने-अपने कार्यों में लग रहे हैं। इतने में एक सेवक ने आकर महाराज के हाथ में अदब के साथ एक पत्र दिया। महाराज ने उस पर विजयपुर नरेश की मुहर देखकर उत्कण्ठा से मंत्री के हाथ में देकर उच्च स्वर से पढ़ने को कहा। आज्ञा, पाकर मंत्री ने इस प्रकार पढ़ना प्रारम्भ किया :—

नमः श्रीगणधर देवाय।

स्वस्ति श्री विविधवैभवसम्पन्न विलासपुर मनोज्ञराजधान्यां विराजमान सकलकलाकुशल न्यायमूर्ति धीरवीर महाराज विक्रमसिंहप्रति, विजयपुर भूपाल रणवीरसिंह का प्रेमतुरस्सर 'जुहारु' प्रवेश हो। शमुभयत्रापि। अपरंच—

बहुकाल के पश्चात् भवदीय पत्र प्राप्त हुआ। उत्तर में निवेदन है कि हमारे यहाँ के श्रीचन्द्र जौहरी एक प्रसिद्ध व्यवसायी हैं। इनके पिता एक क्षत्रिय कुल के वीर थे, और विजयपुर में नौकरी के लिये आये थे। एक जौहरी की नौकरी में उनके भाग्य का सितारा ऐसा

चमका कि थोड़े ही दिनों में वे लक्षावधि द्रव्य के स्वामी होकर प्रसिद्ध रत्नपरीक्षक हो गये। समय ऐसा पलटा कि आज बहुत थोड़े लोग इस बात को जानते हैं कि श्रीचन्द्र वणिक् है, अथवा क्षत्रिय पुत्र।

श्रीचन्द्र का पुत्र जयदेव हमारे राज्य का एक आभूषण है, यदि उस पर किसी सम्बन्ध के अभिप्राय से आपकी दृष्टि गई है तो कहना होगा कि आप भी एक सच्चे रत्नपरीक्षक हैं। विज्ञेष्वलमिति।

पत्र के सुनते ही सब लोगों का हृदय आनन्द से उछलने लगा, महाराज के नेत्रों में से प्रेमाश्रु निकल पड़े। इतने में ही द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि द्वार पर दो सैनिक खड़े हुए भीतर आने की आज्ञा चाहते हैं। कहते हैं, हमको महाराज से मिलना है। आज्ञा हुई कि उन्हें आने दो। थोड़े समय में दो नवयुवक सैनिक वेष में आते हुए दिखलाई दिये जिन्हें देखते ही महाराज प्रफुल्लित होकर अपने आसन से उठ बैठे और यह कहते हुए आगे जाकर उन्होंने एक युवा का हाथ पकड़ लिया "प्रिय जयदेव! तुम आ गये? अच्छा हुआ।" दोनों युवाओं ने पूज्य दृष्टि से महाराज को मस्तक नवाया। महाराज ने आशीर्वाद देकर अपना आसन ग्रहण किया, और पास ही दोनों युवाओं को बैठने का अनुरोध किया। युवा विनयपूर्वक बैठ गये।

महाराज जयदेव। सबसे पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि ये तुम्हारे साथ कौन महाशय है?

जयदेव—(नम्रता से) ये विजयपुर नरेश महाराज रणवीरसिंह के पुत्र और मेरे परम मित्र भूपसिंहकुमार हैं। आपके दर्शनों की अभिलाषा से ये भी मेरे साथ चले आये है।

महाराज—(भूपसिंह की ओर स्नेह दृष्टि से देखकर) तब तो मेरे अहोभाग्य समझना चाहिए, जो आज मेरे परममित्र महाराज रणवीरसिंह के सर्वकलाकुशल और शूरवीर पुत्र भूपसिंह अतिथि हुए हैं।

भूपसिंह—मैं तो आपका पुत्र स्थानीय सेवक हूँ। मेरे अहोभाग्य हैं, जो आज आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

महाराज—परन्तु तुम जैसे सत्पुत्रों की सेवकाई पाना भी तो अहोभाग्य है।

इसके पश्चात् कुशलप्रश्न हो चुकने पर महाराज ने मन्त्री को इशारा किया कि समय अधिक हो गया है, ये बाहर से थके हुए आ रहे हैं। शीघ्र ही इनके ठहरने का राज्योचित प्रबन्ध करो। मंत्री दोनों कुमारों को लेकर दरबार से उठ खड़े हुए और एक सुन्दर सजे सजाये महल में जिसमें अनेक दास दासियाँ सेवकाई के लिये प्रस्तुत थीं, ले जाकर उन्हें ठहरा दिया। उस समय भूपसिंह ने मुस्कराकर जयदेव से कहा "मित्रवर मेरे अनुमान में सन्देह नहीं है बस "पौ बारह" हैं।

कुमारों के चले जाने पर महाराज ने अपने वयोवृद्ध काका महाराज पृथ्वीसिंह से हाथ जोड़के कहा-महाराज! यही जयदेव सुशीला का भावी पति हो, ऐसी मेरी इच्छा है। यह क्षत्रियपुत्र है, यह तो आप विजयपुर की चिट्ठी से जान ही चुके हैं। प्रत्यक्ष दर्शन शेष था, सो भी आज हो गया। अब कृपा करके सम्मति दीजिये कि यह सम्बन्ध किया जाये या नहीं? यदि इस विषय में और भी कुछ अन्वेषण करने की आवश्यकता हो तो वह भी कहिये।

पृथ्वीसिंह—विक्रम! मेरी तुष्टि हो चुकी। कुल और वर दोनों देख लिये, दोनों ही उत्कृष्ट और सुन्दर हैं। वरकी विद्वत्ता की प्रशंसा जो तुम्हारे द्वारा पहिले बहुत कुछ सुनी जा चुकी है, वह वर की मुख-मुद्रा से स्पष्ट प्रकट होती है। अब इससे अधिक छानबीन करना ही क्या है? बस, मेरी आज्ञा है कि अब विलम्ब मत करो, शीघ्र ही विवाह का मुहूर्त निश्चित कराओ। इस भाग्यशाली जोड़ी की कुन्डली हम समझते हैं, विधाता ने पहले ही से मिला के रक्खी होगी। पुरोहित जी को अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।

पुरोहित—महाराज! मेरा भी ऐसा ही अनुभव है। प्रायः जब एक से रूप गुण सम्पन्न वर कन्याओं के सम्बन्ध होते हैं, तब जन्म-कुण्डली स्वयं मिल जाती है।

बिक्रमसिंह—(पृथ्वीसिंह से) और वर के पिता से आज्ञा लेने के लिये क्या करना होगा ?

पृथ्वीसिंह—दस-पांच सेवकों के साथ पुरोहित जी को विजयपुर भेज देना होगा। बस वह ही सब कार्य सिद्ध कर लावेंगे। मेरी समझ में श्रीचन्द इस सम्बन्ध को अतिशय प्रसन्नता से स्वीकार करेंगे। तब तक यहाँ विवाह की तैयारियाँ होनी चाहिये। और विवाह की खुशी में अपने राज्य में स्थान-स्थान पर सदावर्त और औषधालय खोल देना चाहिये, तथा बंदीगृह के सम्पूर्ण कैदियों को छोड़ देना चाहिये। सम्पूर्ण जिन मन्दिरों में भगवज्जिनदेव के पंचकल्याणक महोत्सव होना चाहिये। मुनि, आर्यिका और श्रावक श्राविकाओं को शास्त्र-कार्यालय में से नवीन ग्रन्थ लिखवा-लिखवा कर अथवा छपवा-छपवा कर दान करना चाहिये।

बिक्रमसिंह—ऐसा ही किया जावेगा।

इसके पश्चात् दरबार बरखास्त हुआ। सब लोग आपस में आनंद-वार्ता करते हुए अपने-अपने स्थान पर गये। दरबारी लोग अनेक दिनों की छुट्टी और नाना प्रकार के पारितोषिक मिलने के स्वप्न देखने लगे। थोड़े ही समय में सुशीला और जयदेव के विवाह समाचार नगर भर में फैल गये।

महाराज विक्रमसिंह के आनन्द की कुछ सीमा नहीं रही। विजय-पुर से इच्छित पत्र का आना, तत्काल ही जयदेव और भूपसिंह के दर्शन होना, साथ ही वृद्ध काका की सम्मति मिल जाना, इस प्रकार एक से एक अधिक हर्ष के विषय एक पर एक उपस्थित होने से हर्षो-त्फुल्ल होकर वे अपने आपको भूल गये। महाराज के इस हर्ष का अनुभव वही कर सकते हैं, जिन्हें ऐसे अवसर एक पर एक प्राप्त हुए हैं। संसार में अभीप्सित विषयों के मिलने पर किसको हर्ष नहीं होता ? महाराज की एक अघटनीय इच्छा आज पूर्ण हो गई, अतः उनके हर्ष का पता लगाना सचमुच कठिन है।

अट्ठाईसवाँ पर्व

विलासपुर में विद्युद्वेग से चारों ओर यह खबर फैल गई कि महाराज की कन्या सुशीला का विवाह विजयपुर के श्रीचन्द्र जौहरी के पुत्र जयदेव के साथ होना निश्चय हो गया है और जयदेव अपने मित्र के साथ विलासपुर आये हुए हैं। बस इस बात की चर्चा घर-घर होने लगी। युवा पुरुषों में वरकन्या के रूप और गुणों की तुलना होने लगी, बहुदर्शियों में दोनों कुलों के इतिहास की छिड़ी, और विद्वानों में दोनों की विद्याविलासिता सम्बन्धी वादविवाद होने लगा, परन्तु एक ओर मूर्ख स्त्री समाज में जो आलोचना का स्टोम चला वह सर्वोपरि था।

सुशीला का पिता कितना धनी है, सुशीला के शरीर पर कितने आभूषण हैं, महाराज विक्रमसिंह अपने जमाई को कितना दहेज देंगे, अमुक राजकुमारी सरीखा विवाह अब काहे को किसी का होता है, श्रीचन्द्र एक साधारण बनिया है, वह महाराज की होड़ कैसे कर सकेगा ? बहिन ! सुशीला पढ़ी लिखी है तो क्या हुआ, पर उसका भाग्य अच्छा नहीं निकला। राजकुमारी होकर बेचारी एक बनिये के घर पर जावेगी।

बीच में एक दूसरी बुद्धिमनी ने उत्तर दिया-वाह ! तू भी बावली हुई है। महाराज के अब दूसरा है ही कौन ? जयदेव को ही घरजमाई बनाने लगें, फिर सुशीला को दुःख ही क्या होगा ? दूसरी ने कहा– "वाह ! ऐसा क्या श्रीचन्द कङ्गाल है जो अपने बेटे को दूसरे का कर देगा ? वह भी तो एक जौहरी है, जौहरी के धन का क्या पार है ?" इस प्रकार जगह-जगह मनोरथों के घोड़े दौड़ने लगे।

जयदेव अपने मित्र भूपसिंह सहित एक स्वतन्त्र राजभवन में ठह-राये गये थे। दूसरे ही दिन से दर्शकों की, आलोचकों की और परी-क्षकों की असीम भीड़ उनके निकट रहने लगी। जितने लोग आते थे, सब ही इन कुमारों से मिलकर प्रसन्न होते थे। जो जिस स्वभाव

का पुरुष आता था, ये दोनों उसी के अनुकूल हो जाते थे । बड़े-बड़े विद्वानों के मुख से द्वार पर लौटते हुए साधु ! साधु । शब्द ही सुनाई पड़ता था । काव्य, अलंकार, व्याकरण, न्यायादि सब विषयों को प्रासंगिक आलोचना से सब ही को उनके पास आनन्द प्राप्त होता था ।

तीसरे दिन पुरोहित महाशय विजयपुर से विवाह की स्वीकारता लेकर वापिस आ गये । अर्थात् श्रीचन्द जी ने यह सम्बन्ध प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया । थोड़ा-सा सन्देह था वह भी दूर हो गया । इससे महाराज विक्रमसिंह को सीमाधिक आनन्द हुआ । चारों ओर आनन्द के बाजे बजने लगे, विवाह की तैयारियाँ होने लगीं । वैशाख शुक्ला २ के शुभ मुहूर्त में पाणिग्रहण का निश्चय हुआ । जयदेव और भूपसिंह की विदाई की गई, बड़े ठाठबाट से वे विजयपुर पहुँचाये गये ।

* * * * * *

अब यहाँ पर हम दोनों ओर की विविध तैयारियों का हाल लिखकर पाठकों का समय नष्ट नहीं करना चाहते हैं । पाठक स्वयं विचार लेवें कि एक पराक्रमी नरेश और दूसरे एक धनुकुवेर जौहरी ने इस कार्य में कितनी उदारता न दिखलाई होगी ? विजयपुर से बड़ी प्रभावशाली बरात आई । विजयपुर के नरेश स्वयं महाराज रणवीरसिंह जिस बारात में आये, फिर उस बारात में त्रुटि ही किस बात की होगी ?

जिस प्रकार महाराज विक्रमसिंह की उदारता से उनके राज्य में चारों ओर आनन्द ही आनन्द की मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती थीं, उसी प्रकार श्रीचन्द्र की उदारता से विजयपुर राज्य हरा भरा हो गया था। यों तो श्रीचन्द्र की ओर से विजयपुर राज्य में पहले से अनेक सदावर्त चलते हैं, परन्तु इस पुत्र विवाह की खुशी में उन्होंने धन को पानी से भी हलका बना दिया था ।

शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में ऋषिप्रणीत वैवाहिक विधि के अनु-

सार पाणिग्रहण हुआ। कन्या के माता पितादिक ने जिस समय कहा कि हे कुमार ! यह कन्या हम लोग आपको चरण सेवा के लिए देते हैं, इसको ग्रहण कीजिये और इसकी धर्मपूर्वक पालना कीजिये, और उत्तर में लज्जावनत मस्तक जयदेव ने "वृणेऽहम्" कहकर "धर्मेणार्थेन कामेन पालयामि" यह वाक्य कहे, उस समय प्रायः सभी दर्शकों के नेत्रों से दो-दो चार-चार प्रेमाश्रु झड़ पड़े।

अहा ! दोनों ही ओर के कैसे सुन्दर वाक्य थे, जिनसे आर्यकुल के पुरुष स्त्रियों का कर्तव्य क्या है, सर्वथा स्पष्ट हो जाता था। स्त्री का धर्म है कि वह अपने पति की चरण सेवा करके अपना जीवन व्यतीत करे और पुरुष का कर्तव्य है कि धर्म, अर्थ और काम पूर्वक उसका पालन करे। जो स्त्री और जो पुरुष विवाह-समय में कहे हुए उपर्युक्त वाक्यों का स्मरण नहीं रखते हैं, वे न केवल अपनी प्रतिज्ञा का ही घात करते हैं, वरन् भगवद्वाक्यों का निरादर करके पापोपार्जन भी करते हैं। क्योंकि भगवान् का शासन यही है कि गृहस्थ जीवन में पुरुष और स्त्रियों को एक दूसरे का सहायक होकर कालक्षेप करना चाहिये। गृहवासियों का यही धर्म है और इसी में उनका कल्याण है।

विवाह कार्य समाप्त हो गया। श्रीचन्द्र ने महाराज विक्रमसिंह के हृदय से लगकर विदाई मांगी। उस समय विक्रमसिंह ने महाराज रणधीरसिंह से और श्रीचन्द्र से अतिशय नम्र होकर यह प्रार्थना की कि आप लोग कृपा करके अपने दोनों पुत्रों को थोड़े दिन के लिये यहां और छोड़ जावें, तो बहुत अच्छा हो, अन्तःपुर की ओर से इस विषय का विशेष आग्रह हो रहा है। मैं बहुत शीघ्र ही उनके भेजने का प्रबन्ध कर दूंगा। महाराज की प्रार्थना अस्वीकार नहीं हो सकी, बड़े स्नेह से दोनों ओर से सम्बन्धीगण गले लगकर मिले और पीछे विदा हुए। धूमधाम के साथ बारात विजयपुर की ओर लौटी।

जयदेव और भूपसिंह स्वतंत्र राजभवन में ठहराये गये। सुशीला की समवयस्क सहेलियों ने दोनों कुमारों से आमोद प्रमोद की मीठी

मीठी छेड़छाड़ शुरू की। रेवती ने एक दिन बाग में टहलते हुए सुशीला से कहा, क्यों सरस्वती जी ! अब तो आप विजयपुर के सेठ जी के नाम से नहीं चिढ़ोगी। यदि आज्ञा हो, तो उस दिन की बात सेठजी को बुलाकर कह दूँ। सुशीला ने इसके उत्तर में मुस्करा कर रेवती के गाल पर एक चपत जमा दी। सबकी सब सखियाँ खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

उनतीसवाँ पर्व

जयदेव और भूपसिंह एक महीने विलासपुर में रहे। ऐसा न समझना चाहिये कि दोनों ने ये दिन केवल आमोद प्रमोद में ही खो दिये। इस बीच में उन्होंने विलासपुर से नामी-नामी पण्डितों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों से खूब परिचय कर लिया। उनसे वार्तालाप करके उन्होंने अपरिचित कीर्ति का सम्पादन किया।

राज्य मंत्रियों से, सेनापतियों से और विविध कार्याध्यक्षों से मिलकर उन्होंने राज्यव्यवस्था की खूब ही पर्यालोचना की और जो जो त्रुटियाँ राज्य कार्यों में जान पड़ीं उन्हें बड़ी सरलता से मंत्रियों को समझा दी। सरस्वती पाठशाला का दो बार निरीक्षण किया और प्रसन्न होकर बालिकाओं को पारितोषिक दिये। तीसरी बार पाठशाला में फिर जाने की इच्छा थी, परन्तु एक दिन बगीचे में टहलते समय सुशीला की सखी चन्द्रिका जयदेव से छेड़ बैठी कि कुंवरजी ! सरस्वती (पाठशाला) के देखने के लिये बार-बार आप इतने अधीर क्यों होते हैं, अब वह किसी दूसरे की थोड़े ही हो जावेगी। बस, जयदेव फिर सरस्वती पाठशाला को देखने के लिये नहीं गये।

एक महीना बीत चुका, भूपसिंह ने महाराज से विदाई की प्रार्थना की और कहा—महाराज ! यद्यपि हम लोग यहां आपकी सेवा में रह कर अपने माता-पिता के लाड चावको भूल गये हैं, तथापि बहुत दिन हो चुके हैं, वहां के लोग भी उत्सुक हो रहे होंगे, इसलिये अब हम

लोगों को जाने की आज्ञा दीजिये। महाराज ने आत्मभाव से कुमारों की इच्छा रोकना ठीक नहीं समझा, इसलिये उन्होंने दूसरे ही दिन महाराणी की सम्मति पूर्वक विदाई का दिन निश्चित कर दिया।

विदाई का समय आ पहुँचा। महाराणी मदनवेगा ने सम्पूर्ण सौभाग्यालङ्कारों से सुसज्जित सुशीला को अपने पास बिठाया और गले से लगाकर कहा--प्यारी बेटी! लोकरीति के अनुसार मुझे अपने प्राण को आज अपने से अलग करना पड़ता है। तुझे अब एक नवीन संसार में जाकर अपना जीवन व्यतीत करना होगा। यदि लोकरीति दुर्निवार न होती, तो बेटी! तुझे मैं अपनी आँखों के सामने से कभी नहीं टलने देती, परन्तु क्या करूँ, कुछ वश नहीं है। अब तू जाती है, अतः इस समय माता का जो धर्म है, उसके अनुसार मेरा कर्तव्य है कि तुझे कुछ उपदेश दूँ। परन्तु यथार्थ में तुझे समझाने की कुछ आवश्यकता नहीं है क्योंकि तू स्वयं पंडित है।

माता को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की रहती है कि मेरी लड़की अपने ससुराल में न जाने किस तरह से रहेगी, परन्तु सरस्वती बेटी! मुझे इसकी सर्वथा चिन्ता नहीं है। तुझ जैसी सुशिक्षित पुत्री से दोनों ही कुल शोभायमान होंगे, यह मैं अच्छी तरह से जानती हूँ। तेरे दूरदर्शी पिता ने जिस प्रकार तुझे सब प्रकार से पढ़ा लिखाकर विद्यावती बनाया है, और निर्दोष संगति में रखकर जिस प्रकार सदाचार के साँचे में तुझे ढाला है, सौभाग्य की बात है कि उसी प्रकार का बल्कि उससे बढ़कर विद्वान् और निष्कलङ्क पति भी तुझे मिला है।

श्री जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से तेरे आगामी संसार में मुझे किसी प्रकार की त्रुटि नहीं दिखाई देती है। गृहस्थ जीवन की सफलता पति की अनुकूलता, गृहकार्यों में सुदक्षता, गुरुजनों की सेवा और देव गुरु शास्त्र की सच्ची भक्ति में है।

सांसारिक दृष्टि से स्त्री का मुख्य प्राण पति है और पति का मुख्य प्राण पतिप्राणा स्त्री है। जहां ये दोनों भाव नहीं है, वहां सुख नहीं है। स्त्री की अन्वर्थ संज्ञा गृहिणी है और उसे गृहिणी तभी कह सकते

हैं, जब वह गृहकार्यों में दक्ष होकर गृह की अधिकारिणी हो। गुरुजनों की सेवा करना स्त्री का परमधर्म है, क्योंकि सेवा से वे प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता प्रत्येक व्यक्ति को आशीर्वाद स्वरूप होती है। जो स्त्री गुरुजनों की सेवा नहीं जानती है, वह अतिशय कृतघ्नी है।

सच्चा सुख मोक्ष में है, और उसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति है। गृहस्थ धर्म में इस भक्ति की पालना करने की परम्परारूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। सुशीला बेटी ! बस, यही मेरा उपदेश है। अब तू जा और आज से अपने पति को अपने प्राणों का स्वामी समझ। अपने माता पिता के स्था में अपने सास ससुर को नवीन माता पिता समझ कर उनकी आज्ञाकारिणी होकर रहे।

इसके पश्चात् महारागी का गला भर आया, अधिक नहीं बोला गया। सुशीला ने अपनी माता के गोद में सिर रख दिया। इतने में महाराज ने आकर सुशीला को उठा लिया और समझाकर कहा—बेटी ! मूर्ख लड़कियों के समान क्या तू भी रोती है ? छिः ! रोने से अमंगल होता है। इस समय तो हम लोगों का आशीर्वाद लेकर तुझे अतिशय प्रसन्नमुख होकर जाना चाहिये।

यह सुनते ही सुशीला सन्न हो गई। आंसुओं को पोंछकर उसने माता के चरणों को छुआ। माता ने भी महाराज के भय से आंसुओं का संवरण करके आशीर्वाद दिया। पश्चात् सुशीला ने पिता को नमस्कार किया। पिता ने कहा—बेटी ! तू बुद्धिमती है, जो बुद्धि तूने प्राप्त की है, उसका यथोचित उपयोग करके पतिपरायणा होवे, मेरा यही आशीर्वचन है। इसके पश्चात् अन्य सम्पूर्ण गुरुजनों की आशीष पा चुकने पर सुशीला को रेवती आदि सखियां बाहर लाई और वहां एक सजे सजाये रथ पर सवार कराके आप भी उसी में बैठ गई।

इसके पश्चात् दोनों कुमारों ने आकर महाराज को नमस्कार किया और आज्ञा चाही। महाराज ने आशीर्वाद दिया और कहा कि जिन धर्म के प्रसाद से आप लोगों में पराक्रम, साहस, धैर्य और

विद्या, कला, कुशलताओं की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो। आप लोग जाते हैं, और मुझे इच्छा न रहते भी आप लोगों से अलग होना पड़ता है, यह खेद है।

अस्तु, मैं अपने गृह का प्राणों से प्यारा एक अमूल्य रत्न आपकी सेवा के लिये आपके साथ भेजता हूँ। यह रत्न ही नहीं किन्तु मेरा एक प्राण है। अब इसकी रक्षा का पालन करना आपका धर्म है। बस, अब मैं अधिक कुछ कहना नहीं चाहता हूँ, विलम्ब हो रहा है, इसलिये आप लोग जाइये। परन्तु स्नेह बनाये रखिये।

इसके पश्चात् ही रथ हाँक दिया गया। दोनों कुमार भी अपने घोड़ों पर सवार होके चलने लगे। नगर के हजारों मनुष्य और राज्य के अनेक कार्यकर्तागण बहुत दूर तक पहुँचाने गये। दहेज का माल असबाब पीछे से गाड़ियों पर लदवा दिया गया, और उसको निर्विघ्न पहुँचाने के लिये बलवन्तसिंह गाड़ियों के साथ गया।

तीसवाँ पर्व

सूर्यपुर राज्य की सरहद में एक छोटा सा ग्राम है उसके निकट एक बगीचा है, जिसमें आम और बड़ के अनेक सघन वृक्ष लगे हैं। यहाँ से विजयपुर चार पाँच कोस दूर है। आज यहीं पर भूपसिंह, जयदेव आदि का डेरा पड़ा हुआ है।

रात्रि के १२ बजने में १०-५ मिनट की देर होगी। दिनभर के थके मान्दे लोग आनन्द से नींद के खुर्राटे लगा रहे हैं। यद्यपि शुक्ल पक्ष की रात्रि है, परन्तु आकाश को बादलों ने घेर रक्खा है इससे चन्द्रमा कहाँ है इसका ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सकता है।

ग्रीष्मकाल की ऊष्मा के मारे लोग पसीने में तर हो जाते हैं, परन्तु ज्यों ही सामुद्रिक हवा का एकाध झोंका आता है कि, फिर ध्यानस्थ हो जाते हैं। पहरा देने वाले सिपाही भी निद्रा से झुक-झुक

जाते हैं। कभी-कभी अचेतता के कारण उनके हाथों में से बन्दूकें गिरकर लोगों को चौका देती है।

इसी समय बलवन्तसिंह ने भूपसिंह के तम्बू में जाकर उन्हें जगाया और कहा कि सबेरा होने में अब बहुत थोड़ा विलम्ब है। यदि सामुद्रिक यात्रा की इच्छा हो तो चलिये, मैं किनारे पर जाकर सब बन्दोबस्त कर आया हूँ। यहाँ से सिर्फ एक मील पर समुद्र किनारा है। वहाँ पर एक छोटा सा जहाज उपस्थित है। मल्लाहों से मैं उसका किराया वगैरह ठहरा आया हूँ। वे लोग कहते है कि सबेरे ७-८ बजे तक आप लोग विजयपुर खुशी से पहुँच जावेंगे।

भूपसिंह बलवन्त की बातों में आ गये, उन्होने जयदेव को भी जगवाया और एक सम्मति होकर घोड़े कसवा लिये। सुशीला के लिये रथ तैयार हो गया रेवती को भी साथ चलने को कहा, परन्तु वह कोई विशेष कारण बतला के समुद्र यात्रा के लिये राजी नही हुई।

आखिर एक सखी और आठ दस सेवकों को लेकर जयदेव आदि तीनों व्यक्ति किनारे पर पहुँचे, वहाँ मल्लाह लोग बाट देख रहे थे। दो तीन सेवकों को घोड़े और रथ के साथ वापिस भेजकर बाकी सेवकों के साथ वे जहाज पर सवार हो गये। बलवन्तसिंह के प्रयत्न से जहाज अच्छी तरह से सजाया गया था, बैठने के लिये गद्दे वगैरह बिछा दिये गये थे जिनसे बैठने में कष्ट न हो। सुशीला के लिये एक पृथक् बैठक बनाई गई थी, उसमें सुशीला और उसकी सखी चन्द्रिका बैठ गई।

इसके बाद ही जहाज छोड़ दिया गया। सामुद्रिक वायु के शीतल झोकों से निद्रादेवी का पुनराह्वान होने लगा। सब लोग सिर झुका-झुकाकर उसका सत्कार करने लगे। थोड़ी देर में बादलों के बिखरने से चाँदनी निकल आई तब मालूम हुआ कि अभी आधी रात ही हुई है। भूपसिंह ने चौक कर कहा, अरे! बलवन्त तो कहता था कि सवेरा होना ही चाहता है।

पाठकगण! इसके बाद क्या हुआ सो आप पहले पूर्व में पढ़ ही चुके हैं कि थोड़ी देर में मेघ गरजने लगे, आँधी चलने लगी और

जहाज एक छोटी चट्टान से टकरा कर डूब गया। परन्तु शायद आप यह नहीं जानते हैं कि एक छोटी-सी चट्टान से टकराकर जहाज इतनी जल्दी क्यों डूब गया! इसलिये यहाँ प्रगट कर दिया जाता है कि यथार्थ में इसमें एक गुप्त रहस्य था, वह यह कि जब उस दिन जयदेवादि विलासपुर से चले थे उस समय इतनी गर्मी हो रही थी कि वह सहन नहीं हो सकती थी।

पृथ्वी ने पजावे का रूप धारण किया था। इसलिये उससे व्याकुल होकर जयदेव और भूपसिंह ने प्रस्ताव किया था, अवशेष यात्रा यदि समुद्र से की जावे, तो इस कष्ट से बच सकते हैं। अन्यथा कल फिर भी यही व्यथा भोगनी पड़ेगी। दो घण्टे रात शेष रहने पर कूच कर दिया जावेगा, तो जलमार्ग से सवेरे ही ७–८ बजे तक विजयपुर पहुँच जावेंगे। यह प्रस्ताव कई सेवकों के द्वारा अनुमोदित होने पर यह निश्चय किया गया था कि बलवन्तसिंह किनारे पर जाकर जहाज वगैरह का बन्दोवस्त कर आवें, और दो घण्टा रात्रि शेष रहने पर सबको जगा देवें।

ऐसा ही हुआ। बलवन्तसिंह ने किनारे पर जाकर जहाज को किराये पर ठहराया और पापी ने उन्हें दस-दस वीस-बीस रुपये देकर मार्ग में जहाज डूबा देने की बात भी पक्की कर ली। वह समुद्र किनारा सूर्यपुर राज्य में ही था, और बलवन्तसिंह सूर्यपुर के महाराज का नौकर था, इसलिये मल्लाहों ने उस समय बिल्कुल आना कानी नहीं की, और आखिर बादलों के घिर आने और आंधी चलने का अच्छा मौका देखकर उन्होंने सर्वनाश कर दिया।

रेवती इस कारण से सुशीला के साथ-साथ जहाज पर नहीं गई कि यदि मैं बलवन्त का साथ छोड़ दूँगी, तो यह मार्ग में जो-जो गुप्त मंत्रणायें करेगा, वे मुझे मालूम नहीं होंगी, जिनके न मालूम होने से आपत्ति आने की संभावना है, परन्तु रेवती चूक गई और बलवन्ता का उपाय काम कर गया। अफसोस।

पूर्वार्द्ध समाप्त

सुशीला उपन्यास

उत्तरार्द्ध

—:) ०—*—० (:—

पहला पर्व

कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। जिन बातों की कल्पना भी किसी के हृदय में उत्पन्न नहीं हो सकती, वे बातें हम कर्मों की कृपा से प्रति दिन होती हुई देखते हैं। राजा से रंक बनाना और रंक से छत्रधारी बनाना कर्मों का ही कृत्य है। कर्मों की दृष्टि में धनवान्, दरिद्री, विद्वान्, मूर्ख, बलवान् और शक्तिहीन सब एक है। सबके ही गले में एक-एक रस्सी डालकर नृत्य कराते हैं। कोई इस नृत्य से सुखी हो अथवा दुखी हो इसकी उन्हें परवाह नहीं है। उनका कार्य एक क्षण-भर भी बन्द नहीं होता।

सूर्यपुर के एकान्त बाग के बंगले में सुशीला मूर्छित पड़ी है। दो तीन दासियाँ उसको सचेत करने की चिन्ता में लगी हुई हैं। कोई पंखा झलती है, कोई गुलाबजल छिड़कती है, कोई उसके बिखरे हुए केशकलाप को सम्हाल कर, मुखमण्डल पर के मोती से चमकते हुए पसीने के बिन्दुओं को रूमाल से साफ करती है।

सामने खड़ा हुआ उदयसिंह विषाद किन्तु हर्षोन्मीलित अनिमिष नेत्रों से उसकी ओर देख रहा है। परन्तु सुशीला के जगजयी रूप को देखते हुए उसके नेत्र तृप्त नहीं होते। शरीर कटकित हो रहा है, पैर स्तम्भित हो रहे हैं और वाक्शक्ति पलायमान् हो गई है। ऐसा जान पड़ता है, मानों एक जड़मूर्ति ही वहाँ स्थिर हो रही है।

थोड़ी देर में सुशीला ने आँख खोली, परन्तु उदयसिंह की ओर एक घृणायुक्त दृष्टि डालकर बन्द करली। मूर्छित होने के पहले उसे

जो भय हुआ था, उस भय से बचने का अपने सामर्थ्य के सिवाय अब दूसरा उपाय नहीं है, वह इसी का विचार करने लगी। उदयसिंह की जड़मूर्ति में चेतना आई। दासिया अलग हो गईं। उदयसिंह ने कोमल स्वर से कहा—प्रिये ! अब वियोग नहीं सहा जाता। इस दास पर और कुछ नहीं तो इस समय एक प्रेमकटाक्ष की ही कृपा करो।

सुशीला ने फिर आँख खोली और एक तिरस्कार भरी हुई दृष्टि उदयसिंह पर डालकर वन्द कर ली। अब की बार उदयसिंह ने यह कहकर कि, "हृदयेश्वरी ! अब यह प्रेमसमाधि कब तक लगाये रहोगी ? मुझसे कुछ अपराध हुआ हो, तो क्षमा करो। इन तीखे कटाक्षों के सहन करने की शक्ति मुझ में नही है" अपना हाथ साहस करके सुशीला की ओर बढ़ाया, परन्तु वह हाथ उस दिव्य मूर्ति से निकलती हुई पुण्यप्रभा को भेद करके आगे न जा सका। सुशीला चमक के उठ बैठी और बोली :—

उदयसिंह, मुझे निश्चय हो गया है कि तुम्हारे मित्र बलवंतसिंह ने तुम्हारे लिये ही ये सब चक्र चलाये थे। तुम समझते होंगे कि ऐसा करने से मेरी इष्टसिद्धि हो जावेगी, और दोनों कुमारों के न रहने से मेरे सुख में कोई कांटा नही रहेगा। परन्तु यह सब तुम्हारी भूल है। पापियों को कभी सुख नहीं मिलता और पाप में सुख नही।

यद्यपि मैं इस समय अबला हूँ, असहाय हूँ, इस समय मेरा कोई रक्षक नही, परन्तु स्मरण रखो कि स्त्री को अपने सतीत्व की रक्षा कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं है। स्त्री के पास एक ऐसा विषम शस्त्र है कि उसके आगे तुम्हारे जैसे कामार्त्त पुरुषों का कोई बल नहीं चल सकता है। तुम्हारी सब विडम्बनायें व्यर्थ हैं। तुमने जो पाप विचार किया है, उसकी पूर्ति सर्वथा असम्भव है। व्यर्थ ही तुम एक भ्रम में पड़े हुए कर्मबन्ध कर रहे हो, जिसका परिपाक बहुत बुरा होगा।

राजा निहालसिंह जैसे सदाचारी और धर्मज्ञ पुरुष रत्न के पुत्र होकर ऐसे दुराचारों और पाप कार्यों में प्रवृत्त होते हुए तुम्हें लज्जा

आनी चाहिये। तुम मेरे भाई के समान हो इसलिये समझती हूँ कि अब भी इस पाप वासना को छोड़ दो, और मुझे जहाँ की तहाँ पहुँचा दो। तुम्हारा इसी में कल्याण है।

उदयसिंह—वाह! आखिर सरस्वती ही तो ठहरी। क्यों न हो? अहा! कैसा बढ़िया व्याख्यान हुआ है। परन्तु जान पड़ता है कि व्याख्यात्री महाशय ने अभी प्रेमशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है। यही कारण है कि आप प्रेम को पापवासना समझती हैं, और उसका परिणाम बुरा बतलाती हैं। परन्तु यथार्थ में प्रेम एक स्वर्गीय पदार्थ है यह तभी तक बुरा जान पड़ता है, जब तक कि अनुभव में आ न जावे।

प्रेम का आस्वादन करने पर समस्त संसार प्रेम ही प्रेममय दिखलाई देता है। और सच पूछो तो प्रेम के बिना संसार का कोई काम ही नही हो सकता। इसलिये मैं प्रेमपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रेम करना और सीख लें, जिसमें आपकी पढ़ी हुई विद्या परिपूर्ण तथा सफल हो जावे। देखिये! जरा मेरी ओर दृष्टिपात कीजिये। मुझमें आपका प्रेम के साक्षात् दर्शन होंगे।

सुशीला—उदयसिंह! जान पड़ता है कि इस उन्मत्तता की दशा में तुम्हारे हृदय पर मेरी बातों का कुछ भी असर न होगा। तुम उपदेश के पात्र नहीं हो। मोह ने तुम्हें अन्धा कर दिया है। यही कारण है कि भाई! भाई कहने वाली इस भगिनी को भी तुम पापवासना से देख रहे हो। और अधम की नाई उसके आगे भी प्रेम! प्रेम! बकते हुए नहीं लजाते। छि:! छि:!! धिक्कार है, तुम्हें हजार बार धिक्कार है। मैं अब भी कहती हूँ कि तुम विवेक को सर्वथा तिलांजली मत दो और अपने हित और अहित का कुछ विचार करो।

उदय०—प्यारी! मैं अपना हित खूब विचार चुका हूँ। तुम चाहे मेरा तिरस्कार करो, चाहे धिक्कार दो, मुझे अविवेकी कहो, हिताहित-विचार-शून्य कहो, और चाहे जो कहो, परन्तु मैंने अपना कल्याण एक तुम्हारे प्रेम में ही समझा है। तुम्हारा प्रेम ही मेरा जीवन है।

तुम्हारा प्रेम ही मेरे प्राण हैं और तुम्हारा प्रेम ही मेरे सुख की पराकाष्ठा है। आज तक जो कुछ मैंने विरहदु:ख सहे हैं, वे सब एक तुम्हारे प्रेम के लिये सहे हैं। अपने हृदयमन्दिर में तुम्हारी इस मनोमोहिनी मूर्ति की स्थापना मैंने इसी प्रेमफल के लिये की है। तब से अब तक मैं प्रतिदिन चार-चार छह-छह घण्टे नेत्र बन्द किये हुए अविश्रान्त आँसुओं से तुम्हारा अभिषेक किया करता हूँ।

पाषाण की मूर्तियाँ सुनते हैं कि सेवकजनों की अर्चा से प्रसन्न होकर उनके अभीष्ट मनोरथों को पूर्ण करती हैं परन्तु हाय! तुम्हारी यह सजीव सदयहृदय मूर्ति उस पाषाण से भी कठोर हो रही है, जो अपने इस अनन्य भक्त पर तनिक भी दया नहीं करती है। मेरा हृदय तुम्हारी वियोगाग्नि से जल रहा है, दया करके अब भी उसे अपने प्रेमवारि से सिंचन करके शान्त करो, नहीं तो ये प्राण नहीं बचेंगे।

सुशीला—देखो उदयसिंह! मैं एक बार फिर कहती हूँ कि तुम अभी तक समझ जाओ और ये पागलों जैसी बातें छोड़ दो। इन चाटुकारों से मेरे द्वारा तुम्हारी इष्ट सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। सूर्य पूर्व से पश्चिम में उग सकता है, अग्नि शीतल हो सकती है, पानी पर पत्थर तैर सकते हैं और समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ सकता है, परन्तु वीरकुल शिरोमणि महाराज विक्रमसिंह की पुत्री और पंडितमुकुट श्री जयदेव की सहधर्मिणी सुशीला के जीते जी उसका पातिव्रत पूर्ण शरीर कोई स्पर्श नहीं कर सकता है। जो शरीर अपने आराध्य देव जयदेव के लिये समर्पित हो चुका है, संसार में उस निर्माल्य द्रव्य के पाने का कोई अधिकारी नहीं है।

उदयसिंह—बस! बस! अब यह नखरे रहने दीजिये। तुम्हारी इस ज्ञान गुदड़ी को फिर कभी देखूंगा। इस समय तो केवल प्रेम की पिपासा है, सो एकबार अपने अधरामृत का पान करके उसको शान्त करने दीजिये।

यह कहकर उदयसिंह ने अपना बाहुपाश सुशीला की ओर ज्यों

ही बढ़ाया, त्यों ही सुशीला ने उसे झिड़क कर उच्च स्वर से कहा—मूर्ख कामान्ध ! खबरदार। मुझे स्पर्श नहीं करना।

यह कठोर कंठ स्वर तीक्ष्ण धार वाले बाण की तरह उदयसिंह की छाती पर जाके लगा कि उदयसिंह उस क्रोध-प्रज्वलित मूर्ति के आगे से कांपते-कांपते दो तीन हाथ पीछे हट गया।

सुशीला ने भृकुटिसंचालन करते हुए कहा कि चांडाल ! तेरे घर जो माता है; मैं तेरी वही माता हूँ, तेरी जो कन्या है, मैं तेरी वही कन्या हूँ और तेरी जो बहिन है, मैं तेरी वही बहिन हूँ ? क्या अपनी माता, कन्या और बहिन से तू प्रणय की याचना करता है ? छिः पापी ! मुझे जहाँ की तहाँ पहुँचा दे और अपने पाप का प्रायश्चित कर।

उदय०—ओह ! क्या श्रीमतीजी रुष्ट हो गई हैं । हाँ ! हाँ ! मानिनी हुई हैं। अच्छा, तो मैं हाथ जोड़ता हूँ, पाँव पड़ता हूँ, मेरी धृष्टता क्षमा कीजिये और आलिङ्गन दे।·········

सुशीला बीच में रोक कर बोली:-रे पशु ! मैं तेरी माता हूँ अपनी जिह्वा को रोक।

उस समय सुशीला की अवस्था दर्शनीय थी। क्रोध की प्रचण्ड ज्वाला लज्जालु, कोमल, सरल और सदय मूर्ति को कैसा बना देती है, सुशीला उसका उदाहरण थी। उसके आकर्ण-विस्फारित नेत्र नील-कमल की उपमा को छोड़ रक्तकमल बन रहे थे, बिम्बाफलसे फड़क रहे थे, भृकुटियाँ खींचे हुए धनुष की तरह वक्र हो रही थीं, और सारे शरीर में से एक प्रकार की तेजः प्रभा निकल रही थी।

"अब चाटुकारी और अनुनयों से कार्य सिद्धि होनी कठिन है, स्त्रीजाति बिना थोड़े बहुत भय के वश में नहीं आती।" उदयसिंह ने यह सोचकर दासियों को पुकार कर कहा कि इसके दोनों हाथ पकड़ लो क्योंकि ऐसा किये बिना अब यह प्रसन्न होती नहीं दिखती। आज्ञा के साथ ही दो दासियाँ दौड़ी आईं और सुशीला की ओर पकड़ने के लिये झपटीं। परन्तु उस समय सुशीला के सुकोमल शरीर

में अमानुषीय बल आ गया। उसने हाथ लगाने के साथ ही ऐसा झटका दिया कि दोनों दासियां चार-चार हाथ के अन्तर पर जा पड़ीं।

उन के पड़ने पर सुशीला ने चोट खाई हुई भुजङ्गनी के समान चंचल होकर और उदयसिंह की ओर तर्जनी उठाकर कहा-पापात्मन् ! अब क्या तू मुझे भय दिखलाकर वश में करने का स्वप्न देख रहा है ? छि: एकबार साक्षात् यमराज भी मेरे सम्मुख आ जावे तो उससे डरने वाली नहीं हूँ, तुझ नर कीट की तो बात ही क्या है ? जिस सच्चे पतिव्रत को रावण जैसा पराक्रमी और प्रचण्ड पृथ्वीपति भङ्ग नहीं कर सका है, और जिस शीलरत्न के लेने के लिये अनेकानेक राजा अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी नष्ट कर देने पर भी नहीं पा सके हैं, छि: ! उस पातिव्रत, मर्यादा और शीलरत्न का तेरे जैसे कायर पुरुष, और रंक क्या बिगाड़ सकते हैं ? तू किस खेत की मूली है ?

जिस पुण्य कर्म ने सीता, द्रौपदी, मनोरमा, गुणमाला आदि नारीरत्नों की रक्षा की थी, पापी ! तेरे हाथ से वही पुण्य आज मेरी भी रक्षा करेगा। तू समझता होगा कि इस समय सुशीला मेरे अधिकार में है, मैं भय दिखाकर चाहे जो कर सकता हूँ। मूर्ख ! जरा विचार के देख कि पहरेदारों और दास दासियों से घिरे हुए इस एकान्त भवन में जिस तरह तू मेरे शरीर को कैद रख सकता है क्या उस तरह मेरे इस अदृश्यभूति अन्तरात्मा पर भी तू कुछ बल चला सका है ? नहीं, मेरा निष्पाप और निर्लेप आत्मा सब प्रकार से स्वतन्त्र है उस पर किसी का अधिकार नहीं है।

तेरे पापकलंकित घृणित शरीर के स्पर्श होने के पहले ही मेरे प्राण कूच कर देंगे। फिर पिशाच ! खूब प्रेम से इस रक्त, मांस और हड्डियों के पिंड को श्वान की तरह चाट-चाट के प्रसन्न होना ! तू यह न जानना कि प्राण निकलना कोई असम्भव कार्य है। नहीं, देखते ही देखते केवल एक ही उच्छोश्वास में यह शरीर प्राणहीन हो जावेगा।

तुझ जैसे नराधमों को सन्मुख देखने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है, हजार बार अच्छा है।

उदयसिंह सन्न हो गया। सुशीला की रुद्रमूर्ति और साहस देखकर वह हक्काबक्का सा हो गया। फिर उसका साहस नहीं हुआ कि कुछ अधिक कहे। उसी समय बंगले से उतर कर नीचे बाग में आया और एक लतामंडप के नीचे पड़ी हुई बेंत की आरामकुर्सी पर हाथ रखके लेट गया। फूलों की भीनी हुई सुगन्धित पवन ने कोमल-कोमल थपकियाँ देकर बहुत चाहा कि उसे सुला दूं, परन्तु फल उलटा हुआ। उसकी कामाग्नि और भी सुलगने लगी। मुह से रह-रह के निकलती हुई गरम उच्छ्वासों से कामाग्नि का अनुमान अच्छी तरह से होता था। इस समय रात के १० बज चुके।

दूसरा पर्व

जहाँ तक नजर उठाकर देखते हैं, पानी ही पानी दिखलाई देता है। विस्तृत समुद्र लहरा रहा है। अपने ज्वार को बढ़ाता हुआ और घर-घर शब्द करता हुआ जान पड़ता है कि वह अपने मार्ग के रोकने वाले किनारे पर बड़बड़ाता हुआ क्रोध का उबाल निकाल रहा है। मल्लाहों के छोटे-छोटे लड़के आनन्दक्रीड़ा कर रहे हैं। कोई-कोई छोटी-छोटी डोंगियों पर चढ़कर उन्हें अपना भरपूर जोर लगाकर यहाँ वहाँ फिरा रहे है। कोई-कोई यों ही उथले पानी में अपनी तरण-चातुरी दिखला रहे हैं।

वे ज्यों ही कुछ भीतर प्रवेश करते हैं कि समुद्र उन्हें उछाल कर बाहर फेंक देता है। तब बेचारे हतप्रभ होकर भी फिर भीतर को दौड़ते हैं, परन्तु फिर वैसे ही उछाल दिये जाते हैं। कोई-कोई लड़के किनारे की कोमल रेत में खूब उछल कूद मचाकर व्यायाम कर रहे हैं, और कोई शान्तमूर्ति और कुछ नहीं है तो मुट्ठी भर-भर रेत

ही एक दूसरे पर उछाल कर फाग की धुलंडी का दर्श दिखला रहे हैं। परन्तु जो लड़के चतुर और उद्योगी हैं, वे यहाँ वहाँ घूमते हुए शंख, शुक्ति, अभ्रक, प्रवालादि पदार्थों का अन्वेषण कर रहे हैं।

किनारे पर पानी से ३०-३५ गज के फासले पर कुछ ऊँची जगह पर १०-१२ फूस की झौंपड़ियाँ बनी हुई हैं। इनमें मल्लाह लोग रहते हैं। अनेक झोपड़ियों के द्वारों पर चारपाइयाँ पड़ी हुई हैं। उन पर दो-दो चार-चार मल्लाह बैठे हुए बातचीत कर रहे हैं। मल्लाहों की स्त्रियाँ गृह सम्बन्धी कामकाजों में लगी हुई हैं। चमकते हुए उज्ज्वल शंख शुक्ति आदि के गहने उनके श्यामवर्ण शरीर पर बड़े सुहावने जान पड़ते हैं।

संध्या निकट आ रही है। सूर्य की बिदाई का समय समीप जानकर प्राची (पूर्वदिशा) विवर्ण होकर शोक करने लगी। पुत्र स्नेह ऐसा ही अपूर्व होता है। प्राची दिशा सूर्य की जननी है, इसी कारण उसको इतना दुःख हुआ अन्यथा और दिशाओं को भी होना चाहिये था। सचमुच संसार में माता के स्वर्गीय स्नेह की समता करने वाला दूसरा प्रेम नहीं है।

सूर्य का अरुणवर्ण प्रतिबिम्ब समुद्र जी उछलती हुई जल कल्लोलों में तितर बितर होता हुआ ऐसे भ्रम को उत्पन्न करता है, मानों तपाये हुए सुवर्ण की धाराएँ ही लहरा रही हैं।

थोड़ी देर पीछे विधाता रूपी सुनार ने अपने संसार का एक आभूषण बनाने के लिये सूर्यरूपी गोले को किरणरूपी संडासी से पकड़े हुए समुद्र के पानी में डाल दिया। आकाश में एक के पीछे तक इधर उधर चमकाते हुए तारागण ऐसे जान पड़ने लगे मानों सूर्य समुद्र में डुबकी लगाकर नाना प्रकार के प्रकाश के रत्नों को पाकर बाहर फेंक रहा है।

अन्धकार को सम्पूर्ण संसार के राज्य का चार्ज मिला। जान पड़ता था कि अब कुछ समय आपके ही अनबूझ राज्य में सबको रहना होगा, परन्तु सर्वथा ऐसा नहीं हुआ। थोड़ी ही देर में लाल

पीले होते हुए चन्द्रदेव निकलते दिखलाई दिये जिससे बेचारे अन्धकार को यहाँ वहाँ छुपने के प्रयत्न में लगना पडा। इस समय दो साधु मल्लाहों की ओर आये। दोनों के सिर पर बडी-बड़ी भारी जटायें थीं। शरीर पीले वस्त्रों मे ढका हुआ था। बगल में एक-एक मृगछाला थी। हाथ में एक-एक लोहे का चिमटा तथा कमण्डल था।

एक साधु के कंधे पर एक झोला भी था, जिसमें कुछ आवश्यक सामान जान पड़ता था। यह साधु दूसरे साधु को अपना गुरु मानता था। साधुओं को देखकर मल्लाहों ने उठकर प्रणाम किया। साधुओं ने आशीर्वाद देकर इच्छा प्रगट की कि आज रातभर टिककर हम लोग सबेरे यहाँ से कूच कर देगे। मल्लाहों ने भक्ति पूर्वक उनके ठह-रने के लिये चबूतरे पर कम्बल बिछा दिया, एक ओर धूनी लगा दी। और भी जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता थी, लाके रख दिये। एक मल्लाह एक थाली में सीदा लेकर आया और हाथ जोड़ के बोला—महाराज! इसको स्वीकार कीजिये। परन्तु साधुओं ने अनिच्छा प्रगट करके उसे स्वीकार नही किया, कहा—हमारे भगवत् का भोग दिन में एक ही बार लगता है, तुम लोग कुछ चिन्ता मत करो। हम तुम्हारी शुश्रूषा से सन्तुष्ट हुए है। मल्लाहगण चबूतरे पर साधुओ की धूनी के पास घेर कर इधर उधर बैठ गये। एक साधु कूप में से कम-ण्डलु भरकर लाया। उससे गुरु महाराज ने हाथ पैर मुखमार्जन करके मृगछाला पर आसन जमा के ध्यान लगा दिया। चेलाजो मल्लाहों को गप्पशास्त्र का अध्ययन कराने लगे।

यहाँ वहाँ की जमीन आसमान के कुलावे मिलाने वाली बातों का कांड पूरा होने पर गुरु महात्म्य का आल्हा शुरू हुआ। एक मल्लाह ने पूछा—जब आपके गुरुजी ऐसे २ मंत्रतंत्रों के जानने वाले हैं, तब वे भविष्य की तथा दूसरों के मन की बातें भी जानते होंगे?

चेला—अजी! एक भविष्य ही क्या चीज है, वे सर्वज्ञ है। तब संसार उनकी हथेली पर रक्खा हुआ है। इस समय ध्यान में वे और करते ही क्या है? नेत्र बन्द करके सब जगत् को हस्तामलकवत् देखते

हैं। उसी जगत् में उन्हें आनन्दकन्द भगवत् का दर्शन होता है, जो परम दुर्लभ है। मुझे बारह वर्ष सेवा करते हो गये, परन्तु अब तक भी मेरी वैसी विशद दृष्टि नहीं हुई है।

एक मल्लाह—हम लोगों को कैसे विश्वास हो कि गुरु महाराज सब कुछ जानते देखते हैं?

चेला—कोई बात पूछ कर देख लो, चट विश्वास हो जायगा। करकंगन को आरसी की क्या जरूरत है?

एक म०—परन्तु आगे की बात पर विश्वास कैसे हो सकता है? क्या तब तक आप यहाँ बने रहेंगे?

चेला—साधु संन्यासी एक जगह कहीं नहीं रह सकते। नदी का पानी एक स्थान में ठहर कर जैसे गँदला हो जाता है, एक स्थान में रहने से साधुओं का चारित्र भी वैसा ही गंदला हो जाता है। और हम लोग तो संसार को एक दृष्टि से देखते हैं, किसी पर न्यूनाधिक मोह नहीं रखते। यदि एक स्थान पर ठहर जावें, तो दूसरे स्थान के लोगों का उपकार कैसे हो? यदि इतना अविश्वास है और परीक्षा करना ही है, तो क्या हर्ज है। कोई पिछली बात पूछ लो, जो बीत चुकी हो। और मत पूछो तो उन्हें कुछ इसकी गरज भी नहीं है! उन्हें अपनी प्रशंसा बिलकुल ही नहीं भाती है, जाने।

दूसरा मल्लाह—हाँ महाराज! आप ठीक कहते हैं। साधुओं को इन संसारी झगड़ों से प्रयोजन ही क्या है? उन्हें भगवद्भजन से काम है। गरज तो हम लोगों की है। सो हम महाराज से अवश्य ही कुछ पूछेंगे।

चेला—हाँ पूछना। परन्तु इतना खयाल रखना कि महाराज दो चार प्रश्नों का ही उत्तर देते हैं, जब तक उनकी मौज रहती है। और सो भी तभी जब उनका ध्यान खुलता है। पीछे हजार प्रश्न करने पर भी वे कुछ नहीं कहते। उनकी लीला ऐसी विचित्र है।

एक मल्लाह—क्या हर्ज है एक दो के पूछने से ही विश्वास दृढ़ हो जावेगा।

अनुमान दो घन्टे में महाराज की समाधि पूर्ण हुई। मल्लाह उत्सुक होकर उनके सन्मुख हुए। डरते-डरते एक मल्लाह ने हाथ जोड़ के कहा, गुरु महाराज ! हम लोग कुछ पूछना चाहते हैं ?

गुरु०—(आँख उठाकर) पूछो ! क्या पूछते हो ?

मल्लाह—हम लोगों पर जो बीत चुकी हो, ऐसी कोई बात बतलाइये !

गुरु०—अच्छा, बतलाते हैं ! बोलो, नवीन बतलावें या पुरानी !

मल्लाह—जो आपकी इच्छा हो।

गुरु०—(उदासीनता से) हमारी इच्छा कुछ भी नहीं है, जाओ।

मल्लाह—नहीं, महाराज। हम सब लोग बहुत उत्कण्ठित हो रहे हैं कुछ तो बतलाइये।

गुरु—जो तुम लोग पूछो वही बतलावें।

मल्लाह—(एक दूसरे के कान के पास कुछ गुनगुना कर मस्तक हिलाते हुए) अच्छा, आज हम लोग समुद्र में किस ओर गये थे ?

गुरु—(नेत्र बन्द करके) दक्षिण की ओर।

मल्लाह—(मुस्कराते हुए और दूसरे के मुँह की ओर देखते हुए) हम लोगों के हाथ आज कुछ शिकार लगी या नहीं ?

गुरु—हाँ ! बहुत ही।

मल्लाह—कितनी।

गुरु—खूब मुट्ठी भर-भर।

इस उत्तर को सुनकर मल्लाहगण बहुत सिटपटाये। अनेक लोगों को भय होने लगा कि कहीं हम पर इस बात के प्रकाशित होने से कोई विपत्ति न आवे। परन्तु जो मुखिया लोग थे, उन्होंने एक बार गुरु महाराज की ओर कड़ी दृष्टि डालकर देखा। परन्तु उनकी चेष्टा निर्विकार दीख पड़ी, इससे सबको अपनी भावभङ्गी से समझा दिया कि कोई डरने की बात नहीं है। तब एक ने और प्रश्न किया कि आज हमारे जहाज पर कितने आदमी थे ?

गुरु—(उंगलियाँ गिनकर) तुम्हारे सिवाय दो स्त्रियाँ और दस पुरुष।

मल्लाह—वे यहाँ से कहाँ जाने वाले थे ?

गुरु—(आँख बन्द करके) जहन्नुम को।

मल्लाह—(परस्पर देखते हुए) महाराज ! जहन्नुम कहाँ है ?

गुरु०—बस, तुम्हारे बहुत प्रश्न हो चुके। अब हम नहीं बतलावेंगे।

मल्लाह—(सब मिलके)–फिर हमको विश्वास कैसे होगा ?

गुरु—न हो, हमको परवाह नहीं।

चेला—बस, अब महाराज कुछ नहीं बोलेंगे। बड़ा भाग्य समझो कि तुम्हारे कई प्रश्न उन्होंने बतला दिये। इतनी बातचीत वे किसी से भी नहीं करते हैं। भगवद्भजन ही उन्हें सबसे प्यारा है।

इसके पश्चात् मल्लाह लोग ब्यालू की आज्ञा लेकर अपनी अपनी झोंपड़ियों में चले गये। एकान्त पाकर गुरु चेला की बहुत देर तक गुप्त बातचीत होती रही।

तीसरा पर्व

विजयपुर के जौहरी बाजार में सेठ श्रीचन्द्र अपनी दुकान पर तकिये के सहारे बैठे हुए है। सामने की ओर उनका पुत्र विजयदेव किसी हिसाब की बही में अपने चित्त को जमाये हुए हैं। मुनीम गुमाश्ते लोग अपने-अपने कामों में लगे हुए हैं। ग्राहकगण भावकी पूछताछ कर रहे हैं।

झाड़, फानूस, हांड़ी, आइने आदि सामानों से दूकान की खूब सजावट हो रही है। छोटी-छोटी किन्तु चौड़ी चौकियों पर जिन पर लाल मखमल और गोटे की किनारी सिली हुई हैं, मोती, माणिक,

हीरा, पन्ना, नीलम आदि नाना प्रकार के रत्न ढेर शोभायमान हो रहे हैं। उनकी शीतल प्रभा से दर्शकों के नेत्र तर हो जाते हैं।

एक ओर अनेक कारीगर रेशम और कलाबत्तू से हार गूंथ रहे हैं, दूसरी ओर जवाहिरात के सुन्दर सुवर्णमयी जड़ाऊ जेवर तैयार हो रहे हैं। कहीं-कहीं अनाज की तरह चलनियों में मोती चलाये जा रहे हैं, और कहीं-कहीं बड़े-बड़े ढेरों में से एक-एक जाति के रत्नों का चुनाव हो रहा है। एक ओर अनेक परीक्षक चुने हुए रत्नों पर एक-टक दृष्टि लगाये हुए उनकी कांति और पानी की परीक्षा से अन्तिम चुनाव कर रहे हैं।

इस समय दिन के ग्यारह बजे होंगे। सेठ जी अपनी बांयीं आँख फड़कने की चिन्ता में मग्न थे कि इतने ही में एक उदासीनमुख आदमी ने आकर उन्हें प्रणाम किया और एक बन्द चिट्ठी सेठजी के हाथ में दी, जिस पर सेठजी का सिरनामा किया हुआ था। सेठजी ने आतुरता से चिट्ठी खोलकर विजयदेव को पढ़ने के लिये दी। वह इस प्रकार पढ़ने लगा :—

पूज्यवर श्रेष्ठि श्रीचन्द्रजी

बड़ा धोखा हुआ। बलवन्त सर्प ने, जिसका जिकर आपने सुना होगा, आखिर काट ही खाया। कल रात्रि को हम सब लोग बगीचे में ठहरे हुए थे। दिन की ऊष्मा से विकल होकर एकाएक कुमारों का विचार हुआ कि स्थल की अपेक्षा जलमार्ग से जाना सुखकर होगा। बलवन्त ने अपने प्रयोजन सिद्धि की आशा से इस विचार की पुष्टि की और वह स्वयं किनारे पर जहाज का प्रबन्ध करने के लिये गया। पीछे उसकी सम्मति से दोनों कुमार, सुशीला, चन्द्रिका और आठ दस सेवक आधी रात के अनुमान जहाज पर सवार हो गये। शेष आदमी सामान की गाड़ियों के साथ रहे।

मैं बलवन्त की ओर से सदा सशंकित रहती थी, इसलिये उस पर कड़ी दृष्टि रखने के लिये मैंने उसका साथ छोड़ना ठीक नहीं समझा, परन्तु यथार्थ में वह गलती हुई। जहाज का प्रबन्ध करते समय वह

कुछ दुष्टता करेगा इसका मुझे ख्याल भी नहीं हुआ । कुमारों को पहुँचा कर हम लोग डेरे में आकर सो रहे। सवेरे मालूम हुआ कि बलवन्त पाखाना जाने के बहाना करके, जाकर वापिस नहीं लौटा।

बस, मेरा माथा ठनक उठा कि कुमारों के साथ अवश्य ही धोखा हुआ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके कुमार सकुशल विजयपुर नहीं पहुँचे। उनके ऊपर अवश्य ही कोई बड़ी भारी विपत्ति आई है। आपके कुमार वीर क्षत्रिय पुरुष हैं, इसलिये चिन्ता होने पर भी उनका इतना खटका नहीं है, जितना कोमलांगी सुशीला का है। इस समय की एक-एक घड़ी उसके लिये बड़ी जोखिम की है। इसलिये मैं आपके पास तक नहीं आकर यहीं से सुशीला की रक्षा के लिये जाती हूँ। आप विचारशील और दूरदर्शी हैं। चिन्ता न करें। श्री जिनेन्द्रदेव की कृपा से शीघ्र ही इस विपत्ति का अन्त आवेगा।

उचित समझें तो महाराज रणवीरसिंह जी को भी इसकी खबर करा दें। परन्तु इतना स्मरण रक्खें कि यद्यपि ये सब कर्म सूर्यपुर के राजकुमार उदयसिंह के हैं, परन्तु सूर्यपुर नरेश महाराज निहालसिंह को इसकी कुछ भी खबर नहीं है। इसलिये कहीं ऐसा न हो कि सूर्यपुर राज्य पर महाराज का क्रोध उबल उठे, और चढ़ाई कर दी जावे। ऐसा करने से आपकी पुत्रवधू की जान जोखिम में आ जावेगी। "मरता क्या न करता" इस लोकोक्ति के अनुसार दुष्ट हृदय उदयसिंह न जाने उस समय क्या कर डालेगा। इसलिये जो कुछ प्रयत्न किया जावे, गुप्त रीति से किया जावे।

आपकी पुत्रवधू की दासी—रेवती।

× × ×

चिट्ठी सुनते-सुनते श्रीचन्द्र की अजीब हालत हो गई। वे इसके सिवाय कि जयदेवादि भयंकर आपत्ति में फंस गये हैं और कुछ न समझ सके। पुत्रशोक के असीम उद्वेग से उन्हें मूर्छा आ गई। सब लोग घबड़ा उठे कि इन्हें यह क्या हो गया? विजयदेव पिता! पिता! कहकर चिल्लाने लगा, पर कुछ उत्तर नहीं मिला। आखिर

वह घबड़ाकर रोने लगा। हाय हाय यह क्या हुआ ? आज का सुख मय दिन घोरदु:खरूप हो गया। न जाने अब प्यारे बंधुओं के दर्शन कब होंगे ? वह दुष्ट उदयसिंह न जाने मेरी सुकुमार भावज के साथ कैसा क्रूर बर्ताव करेगा इत्यादि। बड़ा कोलाहल मचा। दुकान के सब ही लोग हाय ! हाय ! करने लगे।

कोई-कोई श्रीचन्द्र को मूर्छामुक्त करने के लिये शीतोपचार करने लगे। किसी ने अन्त:पुर में जाकर भी यह दु:खद वार्ता सुना दी। विद्यादेवी पछाड़ खाके गिर पड़ी। सिर में चोट लगने से खून बहने लगा। दासियाँ घबड़ा गईं। इधर किसी ने महाराज रणवीरसिंह को भी जाकर यह समाचार निवेदन किये। उनके हृदय पर भी इसकी बड़ी भारी चोट लगी। परन्तु वे घबड़ाये नहीं। उसी समय अपने गुप्तचरों को सूर्यपुर की ओर जयदेवादि का अनुसंधान करने के लिये भेजकर आप श्रीचन्द जौहरी की दूकान पर दौड़े हुए आये।

देखा, तो श्रीचन्द्र तकिये के सहारे पड़े हैं, आँखों से आंसुओं की अविरल धारा बह रही है। अभी तक उन्हें अपनी सुधि नहीं है। विजयदेव भी रो रहा है। महाराज के पहुँचते ही सब लोग उठ खड़े हुए, कोलाहल यकायक शांत हो गया। महाराज ने श्रीचन्द्र को सचेत करके समझाया। शोक करने का यह कोई समय नहीं है। अपने पुत्र जीते जागते बहुत जल्दी आकर मिलेंगे। हमें शोक की जगह उनके पता लगाने का प्रबन्ध करना चाहिए। एक साधारण कष्ट के सिवाय, विपत्ति के सिवाय उनके प्राणों का भय सर्वथा नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे क्षत्रियपुत्र हैं। उदयसिंह का बल उनके सामने कोई चीज नहीं है। हाँ, यदि चिन्ता है तो आपकी बहू की है। सो उसकी रक्षा के लिये मैं कई गुप्तचर भेज के आ रहा हूँ। और भी जो आप कहें प्रबन्ध किया जावे। सिवाय इसके रेवती बड़ी चतुर दासी है, वह सुशीला की रक्षा के लिये कोई भी उपाय शेष नहीं रक्खेगी। श्रीचन्द्र ने कहा–महाराज मेरा हृदय कोमल है। वह एक सामान्य दु:ख से ही छिन्न हो जाता है यह तो असह्य शोक है। क्या करना चाहिए और

क्या नहीं यह सब आप ही सोच सकते हैं, मैं तो अब कर्त्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। जिस तरह और जितनी जल्दी हो सके जयदेव भूपसिंह को लाकर मेरे हृदय से लगा दीजिए नहीं तो मेरे प्राण अब नहीं बचेंगे। इतना कहते-कहते श्रीचन्द्र का गला भर आया। महाराज ने उनका हाथ पकड़ लिया और फिर यथाशक्ति समझाया। बड़ी कठिनाई से श्रीचन्द्र का चित्त कुछ स्वस्थ हुआ। फिर महाराज बहुत-सा आश्वासन देकर राजमहल की ओर गये और श्रीचन्द्र दूकान से उठकर अन्त:पुर की ओर।

विजयपुर में घर-घर जयदेव भूपसिंह की शोकवार्ता होने लगी। जिसने सुना, उसी ने शोक किया। कीर्तिमान् पुरुषों के वियोग का शोक किसको नहीं होता ?

चौथा पर्व

घण्टे भर पीछे धीरे-धीरे एक के पश्चात् एक इस तरह सब मल्लाह धूनी पर आ जमे। नशा पानी की उड़ने लगी। साथ ही चेला महाशय के साथ फिर गप्पों का बाजार गरम हुआ। गुरु महाराज का बकध्यान लगा हुआ था। एक थैलो में पड़ी हुई बड़े-बड़े गुरियों की माला उँगलियों के सहारे से चक्कर खा रही थी।

एक बजे के अनुमान झोंपड़ियों की बगल से जो पगडंडी आई है, उस पर से जाता हुआ एक सिपाही दिखलाई दिया। बड़े ऊँचे कद का आदमी था। सिर पर बड़ा ऊँचा पंजाबी फेंटा बंधा था, जिससे ऊँचाई और भी ज्यादा दिखलाई देती थी। रंग गेहुँआ था, बड़ी-बड़ी मूछों और दाढ़ी से चेहरा भरा हुआ था। उसके हाथ में बरछी, बगल में तलवार और कंधे पर बटुआ लटक रहा था। कपड़े पसीने से भीग गये थे, जान पड़ता था, बड़ी लम्बी सफर करके आ रहा है। चाल ढाल से बड़ा जवांमर्द जान पड़ता था। एक झोंपड़ी के सामने आकर उसने एक भारी आवाज से मल्लाह को पुकारा।

सुनते ही धूनी पर जो मल्लाह बैठे थे, उनमें से दो तीन मल्लाह उस ओर को दौड़े। जो धूनी पर रहे, उन्होंने वहीं बैठे-बैठे अपनी दृष्टि और कान उस ओर को दौड़ाये। बकव्रती गुरुजी के कान उसके निकट पहले ही से पहुँच गये थे। इसलिये उनके मुँह से अचानक निकल पड़ा, "हरी! हर!" मल्लाहों ने समझा, महाराज भगवान् का नाम ले रहे हैं, पर चेलाजी सुनते ही सिपाही की ओर यह कहते हुए झपटे कि देखें तो सही कौन आया है? वहाँ जाके देखा, तो सिपाही से इस प्रकार वार्ता हो रही थी।

सिपाही—महाराज निहालसिंह की आज्ञा से मैं बलवन्तसिंह की खोज के लिये आया हूँ। तुम्हें उसका पता जरूर मालूम होगा, जल्दी बतलाओ। मुझे उससे मिलकर वापिस सूर्यपुर पहुँचना है।

एक मल्लाह—(सकपकाता हुआ) बलवन्त कल रात को यहीं थे परन्तु कहाँ गये, हमको मालूम नहीं है। कहते थे, एक काम के लिये बिलासपुर जाना है। सो बहुत करके वे वहीं गये होंगे। परन्तु अब रात थोड़ी रह गई है, थक भी गये होंगे, इसलिये हमारी समझ से दो घन्टे यहाँ विश्राम करके सवेरे ४ बजे के पहले कूच कर देना। आगे बहुत दूर तक इससे अच्छा स्थान आपको नहीं मिलेगा। सिपाही को आशा थी कि बलवन्तसिंह यहाँ अवश्य मिल जायगा अथवा उसका ठीक-ठीक पता लग जाएगा। परन्तु यह कुछ भी नहीं हुआ, इससे कुछ उदास सा हो गया। परन्तु क्या करता? पासकी पड़ी हुई एक चारपाई पर मल्लाहों की बात मान कर बैठ गया। पश्चात् कपड़े वगैरह खोलकर थोड़ा-सा जल मंगाकर हाथ मुँह धो सफेद चादर तानकर सो गया। थक बहुत गया था, चाँदनी खिली हुई थी। सामुद्रिक हवा के झोकों ने पड़ते ही मुरदे का जोड़ीदार बना दिया।

चेला महाशय आगत मनुष्य को खूब बारीकी से देखकर और उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनकर लौट आये। आते-आते एक जमुहाई ली और जोर से कहा—"हरी हर नाम सच्चा है।" गुरुजी महाराज यह सुनकर मुस्करा दिये। धूनी पर से बहुत से मल्लाह धीरे

धीरे खिसक गये थे, जो रहे सहे थे वे भी भोजन के नशे में झूम रहे थे।

चेलाराम ने कहा - भाई! अब तुम सो जाओ, रात बहुत थोड़ी रह गई है, हम लोगों के साथ कहाँ तक जागोगे? हम तो रात दिनको एक ही सा समझते हैं, जितना भगवद्भजन हो सके, उतना ही अच्छा है। बस, मल्लाह लोग तो यह चाहते ही थे, मनकी कह दी, प्रणाम दंडवत करके वे अपने-अपने शयनस्थान में गये। विलम्ब हो जाने से अनेक युवतियो ने बड़ उलाहने दिये। किसी-किसी को तो रूसी हुई लक्ष्मियों के मानमोचन के लिये विनय अनुनयों की चक्की चलाते-चलाते ही सवेरा हो गया।

दो की घण्टी हुए कुछ ही देर हुई होगी। सब लोग निद्रा की एकान्त उपासना में दीन दुनिया की खबर भूले हुए थे। एक आदमी काले कम्बल से अपने शरीर को छुपाये हुए सिपाही की चारपाई के पास खड़ा हुआ, उसके कपड़ लत्त टटोल रहा था। वह यहाँ वहाँ नजर फैलाता हुआ बड़ी सावधानी से यह काम कर रहा था। बहुत देर के पीछे उसे सिपाही के झोले में एक कागज मिला, जिसे लेकर वह साधुओं की धूनी के पास आया, और आग के उजाले में उक्त चिट्ठी को पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ। उसमें लिखा हुआ था :—

"प्यारे मित्र! तुम्हारी तारीफ मै किस मुँह से करूँ। ससार में कोई भी ऐसी वस्तु नही है, जिसे देकर मैं तुम्हारे ऋण से ऊऋण हो सकूँगा। तुमने मेरे लिये अपनी जान पर खेलकर जो परिश्रम किया है वह वर्णनातीत है। परन्तु मेरे सुख दुःख के साथी बन्धु! मै अभागा इतने पर भी सुखी नहीं हुआ। प्राणप्यारी सुशीला हजार समझाने पर भी मेरी ओर नजर नहीं उठाती। मैं गिड़गिड़ाता हूँ, वह घृणा करती है। मैं भय दिखलाता हूँ, वह जान देने को तैयार है। मैं बलात्कार का उपक्रम करता हूँ, वह वीररूप धारण करती है। और मैं प्रार्थना करता हूँ तो वह धर्मोपदेश करती है। इस तरह कुछ भी वश नहीं चलता है जब से आई है, अन्न पानी की ओर देखा भी नहीं है।

क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आता। मेरे दुःख का कुछ ठिकाना नहीं है। तुम से साक्षात् करने की बहुत अभिलाषा है। मुझ से एक बार मिलो, तो कुछ सम्मति-पूर्वक उपाय निश्चित किया जाय।

पिताजी की वर्तमान में इस ओर कुछ कड़ी नजर जान पड़ती है, इससे बड़ा भय रहता है। यदि उन्हें इस बात का पता लगेगा, तो बड़ी कठिनाई होगी। वर्तमान में सुशीला को बगीचे वाले बंगले में रख छोड़ा है। विशेष सम्मुख कहूँगा। मेरा मस्तिष्क बिगड़ रहा है। यदि मुझे सकुशल देखना चाहते हो, तो शीघ्र आकर मिलो।

तुम्हारा कृतज्ञ मित्र–उदय।

× × ×

इस चिट्ठी को उसने सन्मुख रखकर शीघ्र ही एक दूसरे कागज में नकल करली और फिर असली चिट्ठी को जहाँ की तहाँ रख आया। ऐसी सावधानी से कि किसी को झोले के खोले जाने का गुमान भी न हो।

प्रात.काल समीप हुआ। पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ने लगा। चन्द्रमा का प्रकाश मन्द हो गया। तारे एक-एक करके बिदा लेने लगे। गुरु महाराज ने सिपाही की चारपाई की ओर देखकर एक प्रभाती गाई—

हे नर ! भ्रम नींद क्यों न छांडत दुखदाई।
सोचत चिरकाल सोंज, आपनी ठगाई ।। हे नर० ।।

प्रभाती के पूरे होते होते सिपाही जाग उठ"। देखा उजेला हो गया था। चट से उठ बैठा और "आज बड़ी नींद आई। बड़ी मुश्किल हुई बिलासपुर बहुत दूर है, वहाँ जाकर आज ही सूर्यपुर पहुँचना है।" इस तरह बड़बड़ाता हुआ कपड़े लत्ते सम्हाल कर बिलासपुर की ओर चल पड़ा और थोड़ी ही देर में अदृष्ट हो गया।

इधर गुरुदेव भी उठ बैठे और चेले को सम्बोधन करके बोले-बच्चा गोवर्धनदास ! रात भर सोया तो भी पेट नहीं भरा क्या ? अरे ! क्या इसी तरह भगवद्भजन करेगा ? त्रिलोकीनाथ क्या इसी

तरह सोते सोते मिल जावेंगे ? संसार-समुद्र में आकंठ निमग्न हुए गृहस्थ लोग भी इस समय राम नाम का जप कर रहे हैं। देख तो कैसा अमूल्य समय जा रहा है ? इस समय को जो लोग नींद के खुर्राटे लगाते हुए खो देते हैं, वे बड़े मूर्ख हैं। वे अपना आत्म कल्याण कभी नहीं कर सकते। चेलाराम राम नाम की झड़ी लगाते हुए छटपटा कर उठ बैठे।

कमंडलु में रक्खे हुए पानी से हाथ मुंह धोकर गुरु महाराज को साष्टाँग नमस्कार किया। उन्होंने आशीर्वाद देकर कहा—देखो, गोवर्द्धन ! अब विलम्ब मत करो, आगे धूप हो जावेगी तो कष्ट होगा चलने के लिये यही समय अच्छा है। यह सुनकर गोवर्द्धन दंड कमंडलु चीमटा वगैरह उठाकर आगे हो गया और बोला, चलिये। गुरु महाराज भी उठकर साथ हो लिये। इतने में कई मल्लाह दौड़े हुए आये और हाथ जोड़कर बोले—महाराज ! कहते हैं कि साधुओं की सब पर सदा कृपा रहती है परन्तु आप हम लोगों के यहाँ एक दिन भी न ठहरे इससे हम लोग क्या समझें ? यदि आप चले जावेंगे, तो हमको बड़ा दु:ख होगा।

गुरुजी ने कहा—भाइयों ! हमारी सब पर एकसी ही कृपा रहती है तुम लोगों से हम बहुत प्रसन्न हैं। परन्तु हमको रामेश्वर भगवान् के दर्शन की वड़ी उत्कंठा है इससे ठहर नहीं सकते हैं। और एक स्थान पर एक रात्रि से अधिक रहना साधुओं का धर्म भी नहीं है। तुम सबको हमारा आशीर्वाद है कि खुश रहो। परन्तु हमको रोको मत। यह सुनकर मल्लाह चुप रहे और गुरु चेला सूर्यपुर की राह लग गये।

पाँचवाँ पर्व

सुवर्णपुर से अनुमान दो मील ईशान की ओर एक सुन्दर सरोवर है। चारों ओर साफ और सुव्यवस्थित सड़क बनी हुई है। सरोवर

का किनारा कहीं-कहीं कच्चा और कहीं-कहीं पक्का बंधा हुआ है। और किनारे के बीच में चारों ओर जो थोड़ीसी जगह है, उसमें एक साधारण फुलवारी लगी हुई है। फुलवारी नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर फूलों के गमलों, लहलही लताएं, हरे भरे खूबसूरत वृक्षों और हरी दूब से बहुत भलो जान पड़ती है। स्थान स्थान पर छूटते हुए अनेक हरी फव्वारों से तो उसकी श्री और द्विगुणित हो रही है।

सड़क के दूसरी ओर आम्र, बकुल, अर्जुन, जामुन, निम्ब आदि बड़े बड़े वृक्षों की एक श्रेणी है, जो इस मनोहर स्थान की रक्षा करने वाली सन्नद्ध सेना सी जान पड़ती है। यह रम्य सरोवर और उसकी चतुर्दिग्वर्ती सम्पत्ति महाराज विजयसिंह की स्थापित की हुई है। जी बहलाने और समीर सेवन करने के लिये सुवर्णपुर में इसके अतिरिक्त दूसरा अच्छा स्थान नहीं है।

आज सूर्य अस्त होने के कुछ पहले हम राजकुमार भूपसिंह को यहाँ पर टहलते हुए देखते हैं। यद्यपि अभी तक ग्रीष्म की उष्मा समाप्त नहीं हुई है, और ग्रीष्मकाल भी अवशेष ही है, तथापि दो तीन दिन लगातार पानी बरसने से इस समय उस रात दिन बरसने वाली प्रचण्ड अग्नि से, पिंड छूटा हुआ जान पड़ता है।

समस्त पशु पक्षी प्रसन्न-चित्त दिखलाई देते हैं। सूखे पड़े हुए मेंढ़कों के शरीर में जीव आगये हैं। वे इधर उधर उछलते हुए बड़-बड़े बक्कियों के मदको मात कर रहे हैं। सारस, हंस, मयूर आदि पक्षी चैन से क्रीड़ा कर रहे हैं। पानी के बहुत ही समीप बकगणों का ध्यान लग रहा है। पाँव के नीचे कोई जीव न मर जावे इसलिये धीरे-धीरे पाँव रखते हुए वे बाह्य दृश्य से ईर्यापथ शोध के चलने वाले मुनियों का भी नम्बर ले रहे हैं। परन्तु उनका यह बकव्रत तब ही तक रहता है जब तक कोई मछली सामने नहीं आ जाती।

एक साथ चलते हुए एक साथ मधुर शब्द करते हुये और एक साथ उड़ते हुये स्नेह मय सारस के सरस जोड़ों को देखकर भूपसिंह के हृदय में शीघ्र ही प्राप्त होने वाले दाम्पत्य प्रेम की मीठी कल्पनायें

उठने लगी, कोकिला के कोमलालाप से चित्त उत्कंठित होने लगा और मयूरों के आनन्द नृत्य से मुख पर स्वेद झलकने लगा। आगे चलनें को जी नहीं हुआ, शरीर स्तब्ध सा हो गया। इसलिये वे टह-लने से विरक्त होकर तालाब की एक सीढ़ी पर जा बैठे। विचारा था कि यहाँ जी बहला लेंगे और पूर्व विचारों को भुला देंगे। परन्तु चक्र-वाक के जोड़ों को एक दूसरे के समागम के लिये व्याकुल देखकर और भी उत्तेजना हुई।

उस समय वीर पुङ्गव भूपसिंह का हृदय डगमगाने लगा। पाणि-ग्रहण के समय की मदनमालती की प्रतिमा सामने आ गई। रूपामृत का पान करने के लिये उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये। उस समय ऐसा जान पड़ा मदनमालती हाथ जोड़ के कह रही है, प्राणनाथ, बहुत विलम्ब तक बाट देखी, पर आपके दर्शन न हुए। इसलिये विरह-सन्ताप के सहन करने में असमर्थ होकर यह दासी स्वयं आई है।" भूपसिंह इसका कुछ उत्तर देना ही चाहते थे कि कोयल की कूक से आँखें खुल गईं। देखा, सूर्य अस्त हो गया है, और सबके सब कमल जो थोड़ी देर पहले खिले हुए थे, संकुचित होकर प्रभाहीन हो गये हैं। भूपसिंह विचारने लगे, मित्र (सूर्य) के वियोग में जो उदासीन और हतप्रभ हो जाते हैं; वही सच्चे मित्र हैं। धिक्कार है मुझे, जो एक सर्वश्रेष्ठ मित्र को खोकर विषय वासनाओं की कल्पनाओं में उलझा हूँ।

हाय ! जयदेव जैसे मित्र को भूलने वाला मुझ जैसा कृतघ्न और कौन होगा। वह देखो हँसता हुआ चन्द्रमा गगनमण्डल में आ विराजा है। अहो पामर चन्द्र ? तुम्हें सहस्र बार धिक्कार है जो अपने मित्र (सूर्य) के अस्त होने पर प्रफुल्लित होते हो। और उदय होने पर हतप्रभ हो जाते हो। लोग कहते हैं, तुम मित्र के प्रताप से चमकते हो और मित्र की कृपा से तुममें प्रकाश है, इतने पर भी मित्र के साथ तुम्हारा ऐसा निंद्य बर्ताव है ? अतएव कृतघ्नी चन्द्र ! तुम्हें लाख बार धिक्कार है। अस्ताचल पर्वत की गह्वर गुफाओं में मित्र (सूर्य)

पर न जाने कैसी बीती होगी इसका कुछ भी सोच न करके तुम अपनी ज्योत्स्ना प्रिया के साथ क्रीड़ा कर रहे हो, एवं कुमोदनी को मुद्रित कर रहे हो, अतः कलङ्की चन्द्र ? तुम्हें अनन्तवार धिक्कार है। तुम्हारे इन गुणों के कारण ही कदाचित् तुम्हारे निर्मल शरीर में ये कलंक के चिन्ह दिखलाई दे रहे हैं।

परम अहिंसा धर्म के उपदेशक प्यारे जयदेव ! सुशीला जयदेव ! विद्वान् जयदेव ! न जाने इस पापी को तुम्हारे दर्शन कब होंगे ! तुम्हारा वियोग असह्य हो उठा है क्या करूं, कहां जाऊं, तुम्हें कहां ढूंढूं, तुम्हारे लिये अब मैं सब कुछ परित्याग कर सकता हूँ। मेरा अपराध क्षमा करो। न जाने मुझे क्या हुआ था जो मैंने तुम्हें सर्वथा भुला दिया। हाय ! तुम्हारी कोमलांगी सुशीला पर न जाने क्या-क्या विपत्तियां पड़ी होंगी, और न जाने बेचारी अपनी शरीर की रक्षा किस तरह से कर रही होगी। तुम्हारी ऐसी विपत्ति में भी यदि मैं कुछ सहायता न कर सका तो मेरा यह शरीर और किस काम में आवेगा ?

बस ! अब मैं इस सुवर्णपुर में एक क्षणभर भी नहीं ठहर सकता। तुम्हारे लिये मैं अपना जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हूँ ! मन की गति बड़ी विचित्र है। कुछ क्षण पहले जो मन मदनमालती के समागम सकल्पों में मग्न हो रहा था, जिसे प्रहर दो प्रहरका वियोग भी असह्य हो उठा था और जो अपनी पिया के रूपामृत का पान करके सुखी हो रहा था, वही मन चिरकाल के लिये वन वन भटकने को तैयार है, कष्ट सहने को प्रस्तुत है और सब सुखों को तिलांजली देने को उद्यत है। इसके पश्चात् भूपसिंह ने खीसे में से कागज कलम निकाल कर निम्नलिखित चिट्ठी लिखी :—

"प्रिय मदनमालती ! यहां सरोवर पर बैठे हुए अचानक मुझे अपने मित्र का स्मरण हो आया है। मेरे मित्र किसी विपत्ति में फंसे हैं उनकी सहायता करना मेरा परम धर्म है। इसलिये मैं तुमसे बिना मिले ही उनकी खोज में जाता हूं। आज के सुहाग रात्रि जैसे सुख के

समय में मेरे वियोग से तुम्हें दुःख अवश्य होगा। परन्तु क्या किया जाय, विवश हूँ। मित्र का जब तक पता न लगा लूंगा तब तक सुखों की ओर देखूंगा भी नहीं, यह मेरी प्रतिज्ञा है। इसीलिये जाता हूं। कहां जाऊंगा कह नहीं सकता। परन्तु मित्र के दर्शन करके जितनी जल्दी हो सकेगा तुमसे आकर मिलूंगा। तुम्हें मैं जी से चाहता हूँ। इस हृदय का अधिकारी तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है। व्याकुल नहीं होना, धैर्य्य से समय व्यतीत करना। अधिक क्या लिखूं तुम स्वयं बुद्धिमती हो।"

चिट्ठी बन्द करके भूपसिंह ने मदनमालती का सिरनामा किया और सड़क पर आकर अपने सेवक के हाथ में देकर जो कि घोड़े की बागडोर पकड़े हुए खड़ा था, कहा—भवानी, इस चिट्ठी को तुम महलों में पहुँचा देना। मैं किसी काम के लिये पास ही के इस गाँव को जाता हूँ। घोड़े को भी तुम लिये आओ, क्योंकि मेरी इच्छा पैदल जाने की है। बहुत जल्दी मैं वहाँ से लोट आऊँगा। बेचारा सेवक हक्का-बक्का सा हो गया। कुछ पूछना चाहता था, परन्तु भूपसिंह के रौब के मारे कुछ न पूछ सका और "जो आज्ञा!" कहकर सुवर्णपुर की ओर चल पड़ा। इधर भूपसिंह भी उसके चले जाने पर एक ओर को चल दिया।

छठा पर्व

हीरालाल और रामकुंवरि को पलंग से जकड़े हुए छोड़े बहुत दिन हो गये, पाठकों को अब उनकी भी खबर लेनी चाहिये। जयदेव ने पूछा—हीरालाल तुम लोगों को इस दशा में देखकर मैं अवाक् हूँ। कुछ अनुमान नहीं कर सकता कि तुम्हें इस तरह विवश किसने किया? जल्दी कहो, तुम्हारे साथ यह अत्याचार किसने किया? हीरालाल ने मुख की चेष्टा बदलकर कहा—"हाय! हाय! हम लोग चिल्ला चिल्ला कर मर गये पर किसी ने कुछ नहीं सुना। डाकुओं ने हमारी बड़ी दुर्दशा की, मारा पीटा और जकड़ के बाँध दिया।"

इतने में रामकुंवरि के आँखों से आँसू बहाते हुए कहा—और हाय ! मेरा तो सर्वस्व ही लूट लिया। वे (रतनचन्द) खेटपुर से रात को लौट आये थे, सो उन्हें तो वे दुष्ट बाँध ही ले गये। मैं जीती ही मर गई। अब इस संसार में किसका मुंह देखके जीऊँगी। हाय ! हाय !! वे दुष्ट न जाने उनकी क्या दुर्दशा करेंगे ? यह सुनकर जयदेव ने पूछा हीरालाल क्या यह सच है कि वे सब डाकू थे ?

हीरालाल—हाँ, वे डाकू ही थे।

जयदेव—यदि वे डाकू थे, तो उन्होंने चोरी भी अवश्य की होगी ?

हीरालाल—हाँ ! तिजोरी के कोठे में वे बहुत देर तक घुसे रहे थे। न जाने वहाँ से क्या ले गये और क्या छोड़ गये ?

जयदेव—परन्तु तुम्हारी चाची के शरीर पर जो कीमती जेवर हैं, उसको वे क्यों नहीं ले गये ? और तुम्हारे गले में जो यह जड़ाऊ गोप और रत्नों की माला है, क्यों छोड़ गये ?

रामकुवरि—नहीं जी। वे डाकू नहीं थे। कोई बस्ती के ही दुश्मन थे। उन्हें चोरी से मतलब नहीं था। हम लोगों को तकलीफ देने और सेठजी को ले जाने के अभिप्राय से ही वे आये थे। सो पापियों की इच्छा पूर्ण हो गई। अब सेठजी की जान बचना कठिन है। हाय ! यदि तुमसे कुछ हो सके तो उन्हें बचाओ। (रोती है)

जयदेव—परन्तु जब सेठजी सवेरे खेटपुर को चले गये थे, तब डाकुओं को यह मालूम कैसे हो गया कि वे आ गये हैं ! और मैं देखता आया हूँ कि घुड़शाला में घोड़ा नहीं है। यदि सेठजी रात को आ गये होते तो घोड़ा अवश्य होता। यदि कहो कि वे लोग ले गये होंगे, तो जब वे चोरी करने के अभिप्राय से नहीं आये थे, तब अकेले घोड़े को ही क्यों ले जाते ? और बस्ती में घोड़े की चोरी छुप नहीं सकती, इतना क्या उन लोगों को ज्ञान नहीं होगा ?

इसके सिवाय इस बात पर भी तो सर्वथा विश्वास नहीं होता कि सेठ रतनचन्दजी के इस बस्ती में क्या इस संसार में भी कोई दुश्मन हो, मैं उनके स्वभाव को भली भांति जानता हूँ। उनके दुश्मनों

का अस्तित्व बतलाना, एक प्रकार से उनको गालियाँ देना है। और यह तो बताओ, तुम दोनों को उन्होंने इकट्ठा एक पलङ्ग पर एक साथ क्यों बाँधा। तथा ये दो चिट्ठियाँ कौन लिखके डाल गया है यह कहकर जयदेव ने वे चिट्ठियाँ उठा लीं और बाँचकर अपने प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये उन दोनों पापियों की ओर देखा। परन्तु उन्हें अधोवदन और सर्वथा मौनयुक्त पाया। आखिर झूंठ झूंठ है और सच सच है। काठ की हांडी बहुत देर तक नहीं चढ़ती। अन्तिम पोल खुल ही जाती है। हीरालाल शायद पलँग से जकड़े जाने का कुछ उलटा सीधा उत्तर दे देता, परन्तु चिट्ठी की बात पर तो मौन के सिवाय कोई रास्ता ही नहीं था। प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण की जरूरत ही नहीं रही। उन्हें इस प्रकार निःशब्द देखकर जयदेव ने कहा—कहो हीरालाल! चुप क्यों हो गये? और भी कुछ झूठ बोलो? रामकुंवरि से भी कुछ मदद मांगो। एक महापाप कर चुके हो अब उसको छुपाने के लिये और भी पाप करो।

अरे पापियों! क्या तुम मुझे अन्धा समझते हो! जो इस तरह बे सिर पैर की बातें सुनाकर भुलाना चाहते हो। शायद अब भी तुम्हें पवित्र पुण्यात्मा बनने का हौसला है। परन्तु जरा दर्पण लेकर अपना मलिन मुख तो देखो, वह क्या कह रहा है? याद रक्खो, तुम्हारे सब पाप प्रगट हो चुके हैं, तुम्हारे हृदय की कालिमा बाहिर निकल आई है, अब वह छुपाने से नहीं छुपेगी! सच कहो, क्या तुमने इन चिट्ठियों को नहीं पढ़ा है? और क्या तुम लोग यह नहीं जानते कि तुम लोगों के घोर नारकी कर्म को देखकर सेठ रतनचन्दजी संसार से वैराग्य को प्राप्त हो गये हैं।

अरे नारकियों! सेठ रतनचन्दजी तो वैसे ही सौम्य प्रकृति के संवेगी सज्जन थे, यदि कोई पाषाण हृदय दीर्घमोही पुरुष भी तुम्हारी अयोग्य, अघट और अश्रुतपूर्व नारकी लीला को देखता, तो संसार से भयभीत हो जाता। हाय! दुर्लभ मनुष्य जन्म का तुमने ऐसा दुरुप-

योग किया है, जिसका प्रायश्चित नहीं है ! नराधमो ! जिस शरीर में देवदुर्लभ संयम की पालना होती है, उससे तुमने पशुओं से भी नीचतर कर्म किया है। काक के उड़ाने के लिये तुमने अमूल्य रत्न खोकर यह दीनातिदीन अवस्था प्राप्त की है जिसे देखकर दया उत्पन्न होती है।

शोक है कि मैंने दूसरों जैसा क्रूर और कठिन हृदय नहीं पाया, नहीं तो तुम्हारे पाप के प्रायश्चित्त का फैसला यहीं कर देता। सचमुच तुम्हारा अपराध अक्षम्य और असह्य है। परन्तु शायद तुम्हें अपने जीवन में और भी कुछ पुण्य कमाना है, इसलिये मेरे हृदय में ग्लानि तथा विरक्ति के सिवाय क्रोध का अंश भी उद्भवित नहीं होता।

यदि मैं सेठ रतनचन्द जी को पूज्य बुद्धि से नहीं मानता और उनके आदेश की पालना अपना कर्तव्य नहीं समझता, तो तुम्हारा मुँह देखे बिना ही आज इस नगर को छोड़ देता। क्योंकि तुम जैसे नरपिशाचों के दर्शन से अपरिमित दुःख होता है। परन्तु क्या करूं अपने हितचिन्तक के अनुरोध की अवहेलना करते नहीं बनती। शायद तुम्हें भरोसा नहीं होगा कि तुम्हारी सम्पूर्ण सम्पत्ति का एक मात्र अधिकारी मैं बनाया गया हूँ, इसलिये एक बार तुम दोनों इस वसीयतनामे को पढ़लो, और देख लो तुम्हें तुम्हारे पापों का फल मिलना प्रारम्भ हो गया है।

ऐसा कहकर जयदेव ने उसी बेबसी की हालत में उन दोनों के सामने यह वसीयतनामा रख दिया। उसके बाँचते समय उन पापियों के हृदय की जो दशा थी, उसका चित्र इस लेखनी से नहीं खींचा जा सकता। पाठकगण अनुमान से जानलें। एक तो वे अपने पापों का भण्डाफोड़ होने से वैसे ही सूख रहे थे, दूसरे वसीयतनामे की सूरत देखकर तो बेचारे अधमरे हो गये। कर्तव्यविमूढ़ होकर चित्र लिखे से रह गये।

जयदेव ने वसीयतनामे को अपने खीसे में सम्हाल के रख लिया और उन दोनों को बेबसी से मुक्त करके कहा—तुम लोग यह मत समझो कि तुम्हारी इस सम्पत्ति का मैं उपभोग करूंगा। नहीं, मैं इससे सर्वथा पृथक् रहूँगा। मुझे इसकी जरूरत भी नहीं है। परन्तु तुम जैसे दुराचारियों के हाथ इसे न लगने दूंगा। किसी सत्कार्य में लगाकर महानुभाव रतनचन्दजी के परिश्रम को सफल करूंगा। हाँ ! तुम लोग यदि अपने आचारों को सुधार सको, अपने पापों का प्राय-श्चित कर सको अपने मनुष्य जन्म के गौरव को समझ सको और सत्कारों के लिये अपना जीवन उत्सर्ग करके संसार में कीर्ति सम्पादन कर सको तो मैं सच कहता हूँ, इस सम्पूर्ण सम्पत्ति के अधिकारी तुम्हीं हो।

एक बात और है। वह यह कि तुम अपने मलीन जीवन से निराश न हो जाओ और यश प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने में उत्साह दिखलाते रहो। इसलिये सिवाय मेरे तुम्हारे इस दुष्कृत्य को कोई भी नहीं जान सकेगा।

प्राय: ऐसा देखा गया है कि जिनका पापकर्म एक बार संसार में प्रगट हो जाता है, वे निर्लज्ज होकर उससे भी अधिक घोर कर्म करने लगते हैं। इसी विचार से तुम पर यह दया की जाती है। आशा है कि तुम अपना चरित्र दिन पर दिन उन्नत करके इस कलंक को धोकर उज्ज्वल बनने का प्रयत्न करोगे। जाओ और आज ही से पश्चात्ताप आदि से अपने पापों का प्रायश्चित्त करना प्रारम्भ कर दो। लोगों को किसी प्रकार का सन्देह न हो, इसलिये मैं इस समय तुम्हारे रहने के स्थानादि का परिवर्तन नहीं कर सकता। जिस तरह पहले रहते थे, उसी प्रकार से रहो। दूकान की सम्पूर्ण व्यवस्था मैं अपने हाथ में रक्खूंगा।

इसके पश्चात् जयदेव ने तिजोरी वगैरह की सम्पूर्ण सम्पत्ति सम्भा-लकर उसकी एक फहरिस्त तैयार की और ताले आदि की सब व्य-

वस्था करके दूकान की राह ली। उस दिन रामकुंवरि और हीरालाल ने शोक सन्ताप में भोजन नहीं किया।

———

सातवाँ पर्व

हीरालाल और रामकुंवरि की इस घटना को बहुत दिन हो गये। जयदेव को आशा थी कि ये सुधर जावेंगे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। हीरालाल ने दुराचार नहीं छोड़े। कदाचित् सस्त्रीक रहने से यह सम्हल जावेगा ऐसा विचार कर जयदेव ने पीहर से हीरालाल की बहू को भी बुलवा दिया। परन्तु नीम न मीठी होय खावे गुड़ घीसे के अनुसार वह ज्यों का त्यों बना रहा। हीरालाल की स्त्री सुभद्रा बड़ी सुशीला और बुद्धिमती थी। उसने अपने पति को सदाचारी बनाने के लिये शक्ति भर प्रयत्न किये। मन वचन कार्य से सेवा की, नानारूप में प्रार्थनायें की, पर स्त्रियों की वेश्याओं की निन्दा की, उनके समागम के दोष बतलाये, तज्जनित पापों के नरक निगोदादि फल बतलाये, और लोकोपवाद का भय बतलाया, परन्तु यह सब चिकने घड़े पर का पानी हुआ। हीरालाल का वज्र हृदय किसी प्रकार से नरम नहीं हुआ। उस बेचारी को उलटा अपमानित और तिरस्कृत होना पड़ा।

रामकुंवरि भी यद्यपि प्रगट रूप में पतिव्रता बनी रहती थी, परन्तु दुराचार सेवन की ओर उसकी प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा कई-गुनी अधिक होगई थी। हीरालाल से भी उसका सम्बन्ध नहीं छूटा था। यद्यपि रामकुंवरि और हीरालाल जानते थे कि हमारे दुराचारों को जानने वाला कोई नहीं परन्तु जयदेव उसके कृत्यों को रत्ती रत्ती जानता था।

एक दिन जब विश्वस्त मार्ग से यह मालूम हुआ कि हीरालाल और उसके सहकारी इस बात की गुप्त मंत्रणा कर रहे हैं कि जयदेव को किसी प्रकार से खपा डालना। तब जयदेव को बहुत दुःख हुआ।

यद्यपि उसे यह आशा बहुत कम थी कि हीरालाल और रामकुंवरि के चरित्र अच्छे हो जावेंगे तो भी उसे यह स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि मुझे उस चिरस्मरणीय अपरिमित उपकार का बदला पापियों की ओर से इस रूप में मिलेगा।

उस दिन इन्हीं सब बातों का विचार करता हुआ और दुःख रूपी संसार का भयानक चित्र देखता हुआ जयदेव सो गया। आँख लगते ही वह देखता क्या है कि विकटाकार पुरुष सुशीला का आंचल पकड़ के खींच रहा है, जिससे उसका आधा शरीर उघड़ गया है और आधे को वह अपने हाथ से बड़ी कठिनाई से सम्भाले हुये है। बाल खुले है। आँखों से आंसुओं की अविरल धारा बह रही है। जोर-जोर से चिल्लाकर कह रही है—नाथ। मुझे बचाओ। देखो, तुम्हारे देखते हुए यह दुष्ट मेरी लज्जा हरण कर रहा है।

हाय ! हाय ! तुम्हारा पुरुषतत्व, तुम्हारा क्षत्री धर्म आज क्या लुप्त होगया, जो मेरी ओर देखते भी नहीं हो। हाय ! आप जैसे जगच्छिरोमणि विद्वान् वीररत्न की पत्नी क्या मैं इसीलिये हुई थी कि मेरा सतीत्व संकट में आ पड़ेगा, और कोई सहायता नहीं करेगा। हे प्राणेश्वर ! क्या मुझ वीर बाला को अब यह समझकर कि संसार में क्षत्रियों का पराक्रम विदा ले चुका है। स्वयं अपने प्राणोत्सर्ग कर देना चाहिये।

अच्छा, जीवनाधार ! तुम कुछ उत्तर नहीं देते हो, तो लो मैं चली। हो सकेगा और अटल प्रेम कुछ सहायता करेगा तो दूसरे जन्म में आप से मिलूंगी। नहीं तो ······ इतना कहते-कहते उस कल्पना मूर्ति ने अपने आन्तरीय वस्त्र में से एक तीक्ष्ण छुरी निकाली और चाहा कि पेट पेराकर पार हो जाऊं कि जयदेव चिल्लाकर उठ खड़ा हुआ और छुरी पकड़ने के लिये सामने की ओर उसने हाथ फैलाये। परन्तु वहाँ था क्या, जो पकड़ लेता। पहरे पर टहलते हुए सिपाही का हाथ पकड़ लिया। वह घबड़ाकर बोला, मुनीमजी ? आप यह क्या कर रहे हैं ? यह तो मैं आपका सिपाही हूँ। जान पड़ता है

इस समय आप कोई स्वप्न देखकर बहक गये हैं। सचेत होकर अपने को सम्भालिये।

जयदेव ने आँख खोलकर देखा तो सचमुच सिपाही का हाथ उनके हाथ में है। और कमरे में चिराग जल रहा है जिसमें वहाँ की सब चीजें साफ-साफ दिखलाई दे रही हैं। न सुशीला है, न विकटाकार पुरुष है और न वह स्थान है। जयदेव इससे कुछेक लज्जित होकर सिपाही का हाथ छोड़कर बैठ गया और हाथ मुँह धोकर चादर ओढ़कर फिर लेट गया। परन्तु बहुत समय तक नींद नहीं आई। स्वप्न के ध्यान से वह विफल होने लगा।

सुशीला की बेबसी उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े करने लगी। उसकी अत्यन्त करुणध्वनि कानों के पास बार-बार गूंजकर दु:खी करने लगी। जयदेव ने सोचा, क्या सचमुच सुशीला ऐसी विपत्ति में होगी? हाय! मैं कैसा निर्दयी हूँ, जो उसे भूलकर यहाँ दूसरों की चिन्ता में दुर्बल हो रहा हूँ। भला मुझे इन व्यर्थ की चिन्ताओं से क्या? यह संसार है। घर-घर ऐसे ही भटियारे चूल्हे हो रहे हैं। मुझे अपनी चिन्ता करनी चाहिये।

प्यारे भूपसिंह! तुम न जाने कहाँ होओगे। हाय! मैं तुम जैसे सच्चे मित्र को भी भूल गया। न जाने समुद्र से तुम्हारा उद्धार हुआ होगा, या नहीं। तुम्हारे वृद्ध पिता तुम्हारे वियोग से कितने दु:खी होंगे, हाय! मुझे अभागे के कारण तुम्हें अपने प्राणों का संकट सहना पड़ा।

इस प्रकार नाना प्रकार के विचारों में गोते खाते-खाते रात पूरी हो गई। जयदेव ने उठकर नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और अपने दिन के कर्तव्यों का निश्चय करके शय्या का त्याग किया। पश्चात् शौच, मुखमार्जन, स्नान, संध्या, भोजनादि कार्यों से निवृत्त होकर उसने अपने एक सदाचारी विश्वस्त मित्र को बुलाकर दूकान का सम्पूर्ण कार्य समझा दिया और उचित वेतन नियत करके उसे दूकान का कार्यवाहक मैनेजर बना दिया।

इसके पश्चात् नगर के सम्पूर्ण प्रतिष्ठित पुरुषों को और कंचनपुर नरेश को आमंत्रित करके जयदेव ने एक सभा की। उसमें सबका यथोचित सत्कार करके उसने कहा—महाराजाधिराज! आप लोग जानते हैं कि मैं एक परदेशी व्यक्ति हूँ। सुनामधेय सेठ रतनचन्दजी विश्वास करके मुझे अपनी दूकान सौंप गये थे। तदनुसार आज तक जिस तरह बना, मैंने इस दूकान का प्रबन्ध किया। परन्तु अब मैं स्वदेश जाना चाहता हूँ। चूंकि सेठजी के पुत्र हीरालाल इस योग्य नहीं है कि दूकान का कार्य चला सके, इस प्रतिष्ठित दूकान की देख-रेख आप लोगों को जिम्मेवार करके और इसकी उन्नति की अवनति की लज्जा आपके हाथ देकर निश्चिन्तता से जाता हूँ।

वर्तमान में मैंने दूकान का प्रबन्ध अपने विश्वस्तमित्र विनीतचन्द्र को सौंपा है, आशा है कि आपकी देखरेख में वे उत्तम रीति से कार्य सम्पादन करेंगे। सेठ रतनचन्दजी आपके नगर के एक यशस्वी और प्रतिष्ठित वणिक् थे। इसलिये मुझे सम्पूर्णतया आशा है कि आप लोग उनकी इस दूकान को चिरकाल तक रक्षित रखके उनका कीर्ति-स्तम्भ बनाये रक्खेंगे। इसके सिवाय दीक्षित होने के समय सेठ रतन-चन्दजी मुझे एक लाख रुपया इसलिये सौंप गये हैं कि उससे कोई लोकोपकारी धर्मकार्य सम्पादन किया जावे।

सो यह रुपया मैं महाराज के हस्तगत करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि शीघ्र ही इस रुपये से एक पाठशाला खोल दी जावे और उसका नाम सेठ रतनचन्द पाठशाला रक्खा जावे। उसमें ऐसे विद्यार्थी पढ़ाये जावें जो २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करें और उत्तीर्ण होकर देश तथा धर्म की सेवा करें। असमर्थ विद्यार्थियों को पाठशाला की ओर से भोजन वस्त्र का प्रबन्ध किया जावे। महाराज! मुझे खेद है कि उक्त भावी पाठशाला की ओर मैं कुछ भी सेवा न कर सका और जाता हूँ तो भी यह संतोष है कि आप जैसे विद्वान नरनाथ के हाथ से उसका कार्य बहुत उत्कृष्ट रीति से संपादन होगा।

अन्त में विदाई की क्षमा प्रार्थना करके मैं आप लोगों की आज्ञा लेता हूँ। जयदेव का वक्तव्य समाप्त होने पर महाराज ने उसका अनुमोदन किया और अपनी प्रसन्नता प्रगट की। साथ ही अन्यान्य सभ्यगणों ने भी करतल ध्वनि से उसमें सम्मति प्रदर्शित की। इसके पश्चात् महाराज की आज्ञानुसार उनके मंत्री ने दूकान से संपूर्ण बही-खातों की जाँच करके कोष की संभाल की और सबको यथावस्थित पाया।

तदनन्तर सभा विसर्जन करके जयदेव ने महाराज को एकांत स्थल में ले जाकर सेठ रतनचन्द का लिखा हुआ बसीयतनामा सौंप दिया और हीरालाल रामकुंवरि के कच्चे चिट्ठे को सुनाकर कहा-इस जायदाद पर हीरालाल का कोई स्वत्व नहीं है और अपने दुराचारों से वह दया का पात्र भी नहीं है तो भी यदि आपकी सम्मति हो तो मैं चाहता हूँ कि कुछ पूंजी देकर उसे एक दूकान करा दी जावे, जिनमें वह अपना उदर निर्वाह कर सके और रामकुंवरि को भी कुछ निर्वाह योग्य द्रव्य दे दिया जावे।

महाराज ने जयदेव के करुण हृदय पर आश्चर्य करते हुए इस विषय में स्वीकारता दे दी और पूछा—करुणामूर्ति जयदेव ! यह तो सब हो चुका परन्तु अभी तक यह प्रकट नहीं हुआ कि तुम कहाँ जाते हो, क्यों जाते हो और इस विपुल सम्पत्ति का उपभोग कब करोगे ? जयदेव ने नम्र होकर कहा—महाराज ! आपकी कृपा से मैं स्वयं एक विपुल लक्ष्मी का स्वामी हूँ। मेरे भोगने के लिये वही यथेष्ट है। एक आकस्मिक घटना से मैं इस नगर में आ गया था। सो रतनचन्द जी के स्नेह से इतने दिन तक यहाँ ठहरा रहा। अब बन्धुजनों का मोह अतिशय व्याकुल कर रहा है, इसलिये जाता हूँ।

रतनचन्द जी मुझे अपनी सम्पत्ति का अधिकारी बना गये हैं, यह सच है, परन्तु मैं स्वयं उस पर अपना अधिकार नहीं समझता। इसलिये उसे आप लोगों को सौंप जाता हूँ। आप जो चाहें सो करें। यद्यपि मित्रता के सम्बन्ध से मैं यह सलाह दे सकता हूँ कि आप उसे

किसी धर्मकार्य में लगाते रहें, परन्तु स्वार्थी बनकर उसका स्वयं दान नहीं कर सकता। क्योंकि उस पर मेरा उतना ही स्वत्व है, जितना आपका। कंचनपुर नरेश जयदेव उदार विचारों को सुनकर अवाक् हो रहे। आँखों से स्नेह के आनन्द आँसू टपकने लगे। खड़े होकर उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया और कहा—जयदेव! अफसोस है कि तुम जैसे पुरुषरत्न अभी तक हमसे अप्रकट रहे और आज जब प्रकट हुए तब वियोग सन्मुख खड़ा है। जी कहता है कि तुम्हें अपने नेत्रों के सामने से अलग न होने दूँ, परन्तु तुम्हारे असह्य बन्धु वियोग को भी मैं सहन नहीं कर सकता।

अस्तु! तुम सज्जन हो, विद्वान् हो और हृदय के परीक्षक हो। मेरे नवीन स्नेह की अवहेलना न करोगे और अपना सम्पूर्ण परिचय देकर बहुत शीघ्र मुझसे मिलोगे, इसलिये इस समय मैं तुम्हें नहीं रोकता हूँ। जाओ प्रसन्नता से जाओ। परन्तु चलते समय एक बार मुझ से फिर मिलते जाना, महाराज के प्रेमपूरित वाक्यों से जयदेव का गला भी भर आया। एक कागज पर अपने ग्रामादि का पता लिखकर देने के सिवाय मुँह से वह कुछ भी न कह सका। महाराज ने अपने महलों की ओर गमन किया, सत्कार के लिए जयदेव उन्हें कुछ दूर तक पहुँचाने के लिये गया।

इसके पश्चात् उस दिन और कुछ नहीं हो सका। क्योंकि चारों ओर यह खबर फैल गई कि "जयदेव स्वदेश जाने वाले हैं" इसलिये झुण्ड के झुण्ड लोग उनसे मिलने के लिये आने लगे। और जयदेव उन्हें आश्वासन देकर बिदा करने लगे। कंचनपुर में शायद ही कोई ऐसा होगा, जो जयदेव को न चाहता हो। उसके प्रत्येक गुण की घर घर प्रशंसा होती थी। इसलिये आज उसके गमन समाचार से सब ही को दुःख हुआ। लोगों के आवागमन की भीड़ उस दिन आधी रात तक कम नहीं हुई।

दूसरे दिन प्रात काल ही जयदेव कंचनपुर नरेश से मिलने गये। वहाँ जाकर देखा तो लोगों की अगणित भीड़ एकत्र थी। मालूम हुआ

यह सब उन्हीं की विदाई की तैयारी हो रही है। महाराज ने बड़े स्नेह से उन्हें बिठाया। पश्चात् राजपुरोहित ने जयदेव के ललाट पर मंगल तिलक करके अक्षत डालते हुए एक आशीर्वादात्मक श्लोक पढ़ा और महाराज ने एक श्रीफल और बहुत सी भेंट दी।

तदनन्तर बड़ी धूमधाम से जयदेव की विदाई हुई। गाजे बाजे के साथ सब लोग अनुमान १ मील तक पहुँचाने के लिये गये। अन्त में अश्रु बिन्दुओं के पुष्प समर्पित करते हुए और जुहारादि के लिये कर व्यंजन संचालन करते हुए, सब लोगों ने उन्हें जाने की आज्ञा दी। महाराज ने एक बार फिर भी हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया और जयदेव ने प्रणाम करके अपने अभीष्ट स्थान की ओर गमन किया। लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी एक घोड़े के सिवाय जयदेव ने और कुछ भी साथ में नहीं लिया।

————

आठवाँ पर्व

पृथ्वी का सार प्राणिवर्ग, प्राणी जगत् का सार मनुष्य समाज, मानव समाज का रमणी और रमणी का सार रूप है। रूप ही स्वर्ग, रूप ही सम्पत्ति और रूप ही सम्पूर्ण सुखों का प्रस्रवण है। परन्तु रूप भी सारहीन नहीं है, रूप का भी सार है। यदि रूप सुखों का निर्भर है तो उसके सार को सुखों के सार का निर्भर कहना चाहिये

इस सार का नाम सुनते ही हृदय में आनन्दामृत प्लावित होने लगता है, सम्पूर्ण दुःख भूल जाते हैं, योगियों की नाईं चित की सम्पूर्ण वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं, और सांसारिक लज्जा, भय, तिरस्कार, ईर्षा, द्वेष, लोभ, क्रोधादि विकार भावों का लय हो जाता है। मानवीय भाषा में उस सार को प्रेम—स्वर्गीय प्रेम—स्वच्छन्द प्रेम कहते हैं। यह समस्त चेतनात्मक जगत् इसी प्रेम का फल है। प्रेम न होता तो संसार भी नहीं होता।

प्रेम के बिना जीवन भारभूत है, मर्कट के गले का हार है अथवा शव का शृंगार है। जो प्रेम की उपासना नहीं करता है, वह मानव जन्म का तिरस्कार करता है। प्रेम की पूजा करना प्राणी का पवित्र पुण्य कर्म है। उसमें दोष कलंक का प्रवेश नहीं है जो प्रेम को पाप-दृष्टि से देखते हैं, वे स्वयं पापी हैं। प्रेम से पाप का सम्बन्ध नहीं है। बल्कि प्रेम का प्रतिपक्षी अप्रेम ही पाप है। जिन्होंने यौवन के साथ-साथ जगन्मनोहारी रूप और लावण्य पाया है, उन्हें इस पाप से बचना चाहिये और सुखरूप स्वच्छन्द प्रेम के एकांत उपासक बनना चाहिये।

प्रेम में द्वित्व नहीं है प्रेम सबको एक दृष्टि से देखता है। एक कोपीनावशेष दरिद्री और कुवेर सदृश धनिक में प्रेम एक रूप से प्रवेश करता है। विद्वान्, मूर्ख, बलवान, निर्बल तथा रूपवान् और कुरूप सब ही प्रेम के समान अधिकार-प्राप्त मित्र हैं।

प्रेम के सम्यग्दृष्टि 'राज्य में' निज और पर' का भेद नहीं है। प्रेम राज्य की सीमा में आते ही पर को निजत्व प्राप्त हो जाता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि निजत्व का भी लोप होकर एकत्व एक प्राणत्व हो जाता है। पर शब्द की व्युत्पत्ति ही प्रेमशास्त्र में नहीं है। जो प्रेम का उपासक है सच्चा सेवक है, वह परत्व बुद्धि को सर्वथा छोड़कर एकत्व के एक प्राणत्व के आनन्द राज्य में बिहार करता हुआ स्वर्ग सुख का परिहास करता है।

तुम स्वयं विदुषी हो, प्रेम की उक्त व्याख्या करने की तुम्हारे सन्मुख आवश्यकता नहीं थी, स्मरणमात्र कराने के लिये मैंने यह सब किया है। यदि तुमने अपने चित्त को स्थिर करके मेरे यह चार शब्द सुन लिये हैं, तो मैं 'सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः' के सिद्धांत के अनुसार कह सकती हूँ कि अब तुम्हारे हृदय से परत्वरूपी पिशाच निकल गया होगा और एकत्व के लिये व्याकुलता होने लगी होगी। बाह्य दृष्टि से भी देखो, उदयसिंह में किस बात की त्रुटि है ?

ईश्वर कृपा से रूप, लावण्य, पराक्रम, प्रतिभा, वैभव सब ही कुछ

उनमें मौजूद है। वे अपनी विपुल सम्पत्ति के एक मात्र अधिकारी हैं। सैकड़ों रूप गर्विता सुन्दरियाँ उनके लिये तरस रही हैं, जीवन दे रही हैं, पर वे आँख उठाकर भी नहीं देखते। तुम्हारा परम सौभाग्य है, जो तुम पर उनका जी लग गया है। समझ लो कि इस समय तुम्हारे हाथ में तीन लोक का मुकुटमणि आ गया है। अतएवं उसकी अवहेलना मत करो। उसे हृदय से लगाकर जीवन सफल करो।

यह दुर्लभ मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। सूर्यपुर के पूर्व परिचित बाग के कमरे में शोकाकुला सुशीला के सम्मुख एक स्त्री उपर्युक्त प्रेमशास्त्र का व्याख्यान कर रही है। यह स्त्री उमर ३० वर्ष से कम न होगी, तो भी यौवन—सौन्दर्य उसके अङ्ग-अङ्ग में निवास कर रहा था। वह बड़ी सज धज से बैठी हुई, कटीली-कटीली आँखो से भावभंगी प्रगट करती हुई और ताम्बूल रंजित अधर पल्लवों में कुन्दकलिका सदृश दन्तपक्ति की प्रभा प्रस्फुटित करती हुई अपना व्याख्यान दे रही थी।

सुशीला एक चटाई पर भीत के सहारे बैठी हुई सिर नीचा किये यह सब कुछ सुन रही थी। व्याख्याता स्त्री सूर्यपुर की एक प्रसिद्ध दूती है। अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों को निष्फल देखकर उदयसिंह ने इसकी शरण ली है। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस दूती के द्वारा अशक्य से भी अशक्य कार्य सिद्ध हुए हैं। जहां इसके हाथ लगे हैं, वहां सफलता अवश्य हुई है। दूती प्रत्येक विषय में असाधारण पांडित्य रखती है। बड़े-बड़े वाचाल उसके सामने चुप हो जाते हैं, चालाक चूक जाते हैं और दृढ़प्रतिज्ञ प्रतिष्ठा भ्रष्ट हो गुलाम बने हैं।

बड़ी-बड़ी पतिव्रता कुलांगनायें उसकी कृपा से आज पर पुरुषों को गले लगा रही है, बड़े विचारशील एक पत्नी व्रतधारी पर रमणियों के एकान्त प्रेमी हो रहे हैं, और जितेन्द्रिय ब्रह्मचारीगण भी कुलटा तथा वेश्याओं के क्रीतदास बने हुए जीवन सार्थक कर रहे हैं। उदयसिंह को खूब आशा है कि आज इसके द्वारा हम सफल-मनोरथ होंगे और बहुत शीघ्र इन्द्रकानन में बिहार करने का आनन्द लूटेंगे।

दूती का व्याख्यान समाप्त होने पर सुशीला ने कहा—मैं तुम्हारा उपदेश सुन चुकी, अब विशेष परिश्रम मत करो । तुम्हारा पांडित्य यहाँ काम न देगा । आकाश पुष्पों को तोड़ने के लिये हाथ मत फैलाओ। रेत को पेलकर तेल की आशा छोड़ दो । यहाँ वे चने नहीं हैं, जो दाँतों से पीसकर चूर्ण हो जाते हैं, ये दाँतों को भी चूर्ण करने वाले लोहे के चने हैं । प्रेम की मीमांसा करने के लिये तुमने जो बुद्धि खर्च की है, उस पर हँसी आती है । भेद ज्ञान पर तुमने खूब ही कुठार चलाया है ।

जिस निज-पर के भेद ज्ञान बिना यह जीव अनादिकाल से चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःख भोग रहा है, उस ही को समूल नष्ट करने के लिये तुम्हारा प्रयत्न हुआ है । तुम्हारा प्रतिपादन किया हुआ प्रेम नहीं, पैशाचिक, पाशविक किंवा अमानुषिक कर्म है । पशुओं में ऐसा ही प्रेम देखा जाता है ।

माता बहिन स्त्री के भेदज्ञान बिना वे ही प्रेम की उपासना करते हैं, मनुष्य नहीं । मनुष्य और पशुओं में यही भेद है । तुम्हारे प्रेम राज्य की दुहाई पशु समाज में ही फिर सकती है, मानव समाज में नहीं । जिस दिन तुम्हारे प्रेम का राज्य मानव समाज में होगा, उस दिन पृथ्वी काँप उठेगी, प्रलय हो जावेगी ।

दूती—ओ ! हो ! बड़ा उलाहना दे डाला । खैर ऐसा ही सही परन्तु मेरी पिछली बात का भी तो उत्तर दे दो । यों तो तुम पण्डिता हो, मैं शास्त्रार्थ में तुमसे कब जीत सकती हूँ ?

सुशीला—क्या इतने से तुम्हारी बात का उत्तर नहीं हुआ ? अस्तु । अब सुनलो और खूब ध्यान लगाकर सुनलो कि तुम जैसी हजार उपदेशिका भी आजावें, परन्तु मेरा बाल बांका नहीं कर सकेगी । तुम क्यों व्यर्थ ही प्रयत्न करती हो ? बाज पराये पाणि परि, तू पंछिन जिन मार' की उक्ति पर जरा तुम भी विचार करो और इस पापरूप व्यवसाय को तिलांजलि दे दो ।

उदयसिंह से कह दो, सूर्य पूर्व से पश्चिम में उग सकता है, अग्नि

शीतल हो सकती है, पाषाण पर कमल जम सकता है, पृथ्वी पर जहाज चल सकते हैं, परन्तु सुशीला के हृदय का अधिकारी महामति जयदेव के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता।

प्राण चले जावेंगे पर यह प्रतिज्ञा नहीं जावेगी, सदा स्थिर एक-स्वरूप रहेगी। साथ में यह भी कहे देती हूँ कि स्त्रियाँ स्वभावतः लज्जा शीला होती हैं, परन्तु तुम में यह गुण सर्वथा नहीं है, यह देख मुझे दुःख और ग्लानि होती है। इसलिये जाओ और अब मेरे सन्मुख नहीं आना।

दूती—(नखरे से) भला मुझ पर इतनी खफ गई क्यों ? तुम्हारे मिलाने की कोशिश का मुझे क्या यही इनाम मिलेगा ? मेरे सरीखा परोपकार का व्यापार करने वाला और दूसरा कौन है ! तुम जैसे हजार तरसते हुओं को मिलाना और प्रेम के सूत्र में बाँधना जिसका पवित्र कर्म है, उसे बुरा व्यवसाय कौन कह सकता है ? मुझ से घृणा करना तुम्हारी गलती है। अस्तु ! अब यह तो कहो कि ये नाज नखरे दिखला-दिखला कर उन्हें कब तक तरसाओगी। बहुत तो हो चुका, अब जाने दो। परीक्षा हो चुकी। कहीं ऐसा न हो कि परीक्षा में बेचारों की जान पर आ बने। तुमने तो वही मसल कर रक्खी है कि मेंडकों की जान जावे, लड़कों का खेल। तुम्हें विश्वास न हो, तो चलो, मैं चलके दिखला दूं कि उदयसिंह तुम्हारे वियोग में कैसे कराह रहे हैं ?

इतना कहकर दूती हाथ पकड़ के उठाने को अग्रसर हुई कि वह शांतिमूर्ति सुशीला क्रोध से काँप उठी। एकाएक सिंहनी सी गरज कर क्रोध स्फुरित कण्ठ से बोली—खबरदार पापिनी ! एक शब्द भी मर्यादा से बाहर उच्चारण करेगी तो जिह्वा खींच लूंगी। यदि कुशल चाहना है, तो चुपचाप यहाँ से चली जा।

दूती बिल्कुल नहीं डरी, उल्टी सिर मटकाकर कहने लगी—ऊँह ! बड़ी मर्यादा वाली हो कहीं वहाँ भी मर्यादा को पकड़े न बैठी रहना। इतना कहा ही था कि सुशीला के नेत्रों से क्रोध की चिनगारियाँ

निकलने लगीं। दीवाल पर लटकते हुए कोड़े को निकाल कर वह दूती-देवी की पूजा करने लगी। दूती चिल्लाकर भागी तो भी दरवाजे तक जाते जाते अच्छे ताजे-ताजे पच्चीस तीस कोड़ों से कम का प्रसाद नहीं चढ़ा। कोलाहल सुनकर चारों ओर से दासियाँ दौड़ आईं। देखा, तो दूती भागी जा रही है और सुशीला सुकुमार रौद्र रूप धारण किये खड़ी है।

नवां पर्व

आज सूर्यपुर में घर-घर गली-गली इस बात की चर्चा हो रही है कि तालाब के समीप बगीचे में एक बड़े महात्मा योगी ठहरे हुए हैं। वे पंचाग्नि तपते हैं, अधोमुख झूलते हैं, कंटकशय्या पर सोते हैं और केवल फलाहार करते हैं।

वे न किसी से कुछ याचना करते हैं और न किसी के यहाँ भोजन करते हैं। निरन्तर मौन धारण किये रहते हैं। परन्तु कभी-कभी किसी पर प्रसन्न होते हैं, तो एक दो बातें करते हैं उनकी कृपा से सैकड़ों अन्धों को सूझने लगा है, सैकड़ों जन्म रोगी नीरोग होगये हैं, पागल चतुर हो गये हैं, लँगड़े दौड़ने लगे हैं, बहरे सुनने लगे हैं और निर्धन धनी हो गये हैं। मारन, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन आदि सम्पूर्ण विद्याओं के वे पारगामी हैं। कहाँ तक कहें, जहाँ सुनिये वहाँ ही उनकी महिमा की एक नई बात सुनाई देती है। बालक, युवा, वृद्ध, पुरुष, स्त्रियाँ सब ही इसी कथा के प्रेमी बन रहे हैं।

जिस जगह योगी जी ठहरे हैं, वहाँ हजारों पुरुष स्त्रियों की भीड़ हो रही है। साधु महाशय झाड़ की डाली से उलटे लटके हुए धूम्रपान कर रहे हैं। एक चेला उनके पास ही हाथ जोड़े खड़ा है। दर्शकगण बंदना नमस्कारादि कर रहे हैं। दस पन्द्रह अन्धे, लंगड़े, बहरे, धूनी के चारों तरफ जम रहे हैं, एक घन्टे के पश्चात् योगीजी झाड़ से उतरे।

लोगों ने जय जय शब्द करके उनका अभिवादन किया। पश्चात् एक-एक करके लोग प्रार्थना करने लगे और योगीजी धूनी में से थोड़ी थोड़ी भस्म उठाकर देने लगे। अन्धों से कहा-घी में घिसकर आंजो, लंगड़ों से कहा, पानी में घिसकर लेप करो, बहरों से कहा—पानी में घिसकर कान में डालो। सारांश यह कि सब प्रकार की आधिव्या-धियों पर योगीजी एक मात्र धूनी की राख देते थे। दूसरी ओर से अनेक पुरुष धन्य-धन्य जय-जय कहते हुए आ रहे थे।

कोई कहता था, महाराज ! एक ही बार लगाने से मैं सूझता हो गया, कोई कहता था मेरे पैर अच्छे हो गये और कोई कहता था मेरा कुष्ट जाता रहा। इस तरह कोई कुछ, कोई कुछ कहते थे, और आकर महात्मा के चरणों से लिपट जाते थे, और दर्शकगण आश्च-र्यान्वित होते हुए अपने-अपने घर जाते थे और उनके द्वारा आश्चर्य-जनक प्रशंसा सुनके दूसरे दर्शक आते थे। इस तरह सारे दिन आवा-गमन जारी रहता था। योगीजी कभी धूनी पर बैठ के भस्म वितरण करते थे, कभी कंटकशय्या पर लेटते थे और कभी पंचाग्नि तपते थे।

योगीजी की कला को फैले महीने भर से ज्यादा हो गया। एक दिन उदयसिंह अपने दो चार मित्रों के साथ बैठा हुआ था, बलवन्त-सिंह भी उपस्थित था। उनमें यहाँ वहाँ की गपोड़ेबाजी होते-होते इसी विषय की चरचा छिड़ी। बातों ही बातों में वशीकरण की बात चली। एक ने कहा अन्यान्य कलाओं की नाई इस विषय में भी योगी जी बड़े सिद्धहस्त हैं। अनेक लोगों को उनके वशीकरण से प्रत्यक्ष फल मिले हैं।

दूसरे ने कहा—उस दिन दो तीन पनिहारियों को देखो न उन्होंने धूल फेंककर कैसा मंत्र-मुग्ध कर दिया था कि घण्टों टकटकी बाँधे हुए खड़ी रही थी। जब दूसरी धूल फेंकी थी, तब कहीं बेचारी वहाँ से टली थी। तीसरे ने कहा—भाई ! उनकी सब ही बातें विचित्र होती हैं। सच तो यह है कि आज तक न कोई ऐसा महात्मा आया है

ओर न आवेगा। क्यों उदयसिंहजी आपने तो उनके दर्शन किये ही होंगे! उदयसिंह ने कहा—नहीं, अभी तक तो मैं वहाँ नहीं गया हूँ परन्तु अब विचार है कि जरूर जाऊँगा। बल्कि बलवन्तसिंह यदि सम्मति देंगे तो आज ही जाके दर्शन करूँगा।

इसके पश्चात् सब लोग अपने-अपने घर चले गये। और बलवन्त-सिंह तथा उदयसिंह परस्पर सम्मति मिलाकर योगीराज के दर्शन के लिये गये। इन्हें दूर से आते हुए देखकर चेलाराम ने जम्हाई लेते हुए कहा—निश्चय ही "उदय बलवान" है। योगीजी ने अभिप्राय समझ के मुस्करा दिया।

रात्रि का समय था दस-पांच आदमियों के सिवाय योगीराज के यहाँ अधिक भीड़ न थी। सो भी जब उदयसिंह ने एकान्त में कुछ प्रार्थना करने की इच्छा प्रगट की तब वहाँ से हटा दिये गये। जब उदय, बलवन्त, योगी और उनके शिष्य के सिवाय वहाँ कोई न रहा तब उदय ने अतिशय नम्र होकर वशीकरण मन्त्र की याचना की।

योगी—ओह! इस जरा से कार्य के लिये तूने इतना ढोंग फैलाया, उन लोगों को वृथा कष्ट दिया! सबके सामने इशारा करने में क्या हर्ज था। वशीकरण कोई बुरा कर्म नहीं है, जो इतना छुपाया जाय। यह तो प्रत्येक पुरुष के पास रहने योग्य विद्या है। अच्छा तो उसके पहले कि तुम्हें वशीकरण सिखलाया जावे हमको इस बात का विश्वास होना चाहिये कि तुम किसी उच्च कुल के पुरुष हो क्योंकि यह विद्या अपात्र या अयोग्य को नहीं दी जाती।

बलवन्तसिंह—महाराज! ये यहाँ के राजकुमार हैं, बड़े ही योग्य हैं, इनकी पात्रता के विषय में आप कुछ भी शंका न करें। यहाँ का प्रत्येक पुरुष इसकी साक्षी दे सकता है।

योगी अच्छा! (झोरे में से एक पोटरी निकाल कर) यह थोड़ी सी धूप ले जाओ। इसे रविवार की रात्रि को १२ बजे पश्चात् किसी निर्जन स्थान के मन्दिर में जलाओ, और पद्मासन से बैठकर (एक कागज पर लिखकर) ......

इस मंत्र को १००८ बार पढ़ो। अन्त में धूप के साथ ही इस कागज को जलादो। बस मन्त्र सिद्ध हो जावेगा। जिसकी ओर एक दृष्टि से तुम देख लोगे वह तुम्हारा चेला हो जावेगा पर बच्चा किसी बुरे कर्म में इसका उपयोग नहीं करना।

उदयसिंह—(हाथ जोड़ के) महाराज! आपकी आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं होगा। परन्तु यह तो बतलाइये कि मन्त्र सिद्ध करते समय इन्हें (बलवन्त को) पास रख सकूंगा या नहीं? और आपने शायद देखा होगा वह नदी के पास का फूटा मन्दिर इस कार्य के योग्य है या नहीं?

योगी—मंत्र का जप करते समय तो नहीं, परन्तु यदि तेरी इच्छा है तो धूप जलाते समय तक इसे पास रख सकता है। उस मन्दिर को हमने देखा है, बहुत अच्छा है। हम स्वयं वहाँ मंत्र सिद्ध करने को जाया करते हैं। अन्य स्थानों की अपेक्षा वहाँ सिद्धि भी शीघ्र होती है। अच्छा जाओ हम लोगों के ध्यान का समय हो गया है।

यह सुनकर दोनों मित्र प्रसन्नता से साष्टांग नमस्कार करके वहाँ से चले गये। उदयसिंह को उस रात खूब नींद आई।

दूसरे दिन ही रविवार था। आधी रात होते ही दोनों मित्र खुशी खुशी फूटे मन्दिर में जा पहुँचे; अग्नि साथ ही लिये गये थे; नदी में हाथ मुंह धोकर शुद्ध वस्त्र परिधान करके उदयसिंह ने धूप जलाना प्रारम्भ किया जिससे थोड़ी ही देर में मंदिर का गर्भगृह धुंए से परिपूर्ण हो गया वह धुआँ खूब खुशबूदार था, इसलिये पहले तो अरुचि नहीं हुई परन्तु पीछे उसके असर से दोनों के मस्तक घूमने लगे। उदयसिंह ने कहा—न जाने क्यों मुझे स्मृति भ्रमसा होता जाता है। बलवन्त ने कहा और मेरी भी यही दशा है।

इसके पश्चात् उदय कुछ कहना ही चाहता था कि बेहोश होकर गिर पड़ा और तब तक बलवन्त ने भी पैर फैला दिये। उन दोनों के गिरते ही मानों ताक ही में बैठे थे, इस तरह से दो मनुष्यों ने आकर उन्हें बाँध लिया और एक एक की गठरी पीठ पर लाद ली। बाहर

दो साधु भगवाँ वस्त्र पहने खड़े थे। उनसे गठरी वालों ने आकर कहा—कहिये अब हम लोगों के लिये क्या आज्ञा है !

एक साधु—जितनी जल्दी जा सको, तुम दोनों सीधे विजयपुर चले जाओ और वहाँ इन्हें खूब बन्दोबस्त के साथ कैद करा दो।

एक मनुष्य—और आप लोगों के विषय में क्या कह दूँ ?

एक साधु—यही कि दूसरा कार्य सिद्ध करके शीघ्र ही आते हैं। बहुत करके कल ही अपनी माया समेट कर हम लोग यहाँ से चल देंगे।

इतनी बातचीत के पश्चात् वे दोनों पुरुष गठरी लादे हुए विजयपुर की ओर रवाना हो गये और दोनों साधू वहाँ से चलकर सीधे उदयसिंह के बंगले में पहुँचे। परन्तु वहाँ जाकर जो कुछ सुना, उससे वे चकित स्तंभित हो गये। महल के दास, दासी, पहरेदार घबड़ाये हुए फिर रहे हैं, और कह रहे हैं—"हाय ! सुशीला न जाने कहाँ लोप हो गई ?" सब लोगों की आँखों में धूल डालकर न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गई।

× × ×

पाठकों की उत्कण्ठा मिटाने के लिये यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि ये दोनों साधू वहीं थे, जो कुछ दिन पहले समुद्र के किनारे मल्लाहों के मेहमान बने थे और जिन्होंने सूर्यपुर में अपनी योगमाया फैलाकर लोगों को चकित स्तंभित कर दिया था।

इनमें से एक गुरुजी के वेष में है, विजयपुर के मन्त्री का पुत्र बलदेवसिंह है और दूसरा जो चेला बना हुआ है, सुशीला की प्यारी सखी रेवती है। ये दोनों ही सुशीला का पता लगाने के लिये घर से निकले थे। रास्ते में भेट हो जाने से दोनों ने साथ रहकर पारस्परिक सहायता से अपने अभीष्ट को सिद्ध करने का निश्चय कर लिया था। मल्लाहों के आश्रम में उदयसिंह की चिट्ठी जो बलवन्तसिंह के लिये उसका एक सेवक लिये जा रहा था, चालाकी से बाँचकर उन्होंने यह जान लिया था कि सुशीला अमुक स्थान में रक्खी गई है। उदयसिंह

उसे किसी और प्रकार से वश करने के प्रयत्न में है, इसीलिये उन्होंने सूर्यपुर में अपनी योगमाया फैलाई थी। सो उसके प्रभाव से उन्होंने उदय और बलवन्त को कैद कर लिया, परन्तु सुशीला हाथ न आई।

योगलीला में जो नाना प्रकार के चमत्कार दिखलाये थे वे सब जाली थे। विजयपुर और विलासपुर के जो जासूस सुशीला का पता लगाने को आये थे, वे ही नाना प्रकार के वेष धारण करके अन्धे लंगड़े बहरे बनकर आते थे, और फिर भस्ममात्र से अपने को अच्छे हुए बतलाते थे। अनेक लोग ऐसे भी चारों ओर फैल गये थे, जो लोगों से मिलकर योगीराज की झूंठी प्रशंसा करते थे। इसी विलक्षण चालाकी से बलदेवसिंह और रेवती ने सूर्यपुर को अन्धा बना दिया था। परन्तु अफसोस है कि जिस कार्य के लिये उन्होंने इतने सब आडम्बर किये थे, वह सिद्ध न हुआ। सुशीला फिर लापता हो गई।

दसवाँ पर्व

जिस दिन से सुशीला, जयदेव तथा भूपसिंह की किसी आपत्ति में फंस जाने की वार्ता सुनी है, उस दिन से महाराज विक्रमसिंह निरन्तर उदास और सचित्य रहा करते हैं। किसी भी राज्यकार्य में उनका जी नहीं लगता। सदा एकान्तवास में बैठे हुए वे अपने भाग्य की गति पर विचार किया करते हैं। उनकी पुत्र स्थानीया प्राणप्यारी सरस्वती सुशीला क्या खोई है, ऐसा जान पड़ता है, उनकी सरस्वती (बुद्धि) भी उसके साथ खो गई है। वे बड़े दूरदर्शी और विद्वान समझे जाते थे, परन्तु इस समय मोह के वश से उनमें न धीरता रही है और न दृढ़ता। यद्यपि सुशीला आदि की खोज के लिये उनके बुद्धिमान मन्त्री अनेक गुप्तचर भेज चुके हैं, और प्रतिदिन आश्वासन दिया करते हैं परन्तु इससे उन्हें सन्तोष नहीं होता है।

एक दिन उन्होंने यह विचार कर कि "बैठे रहने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है" अपने सूरसेन मन्त्री और दो चार वयोवृद्ध तथा विशेषज्ञ राज्य कर्मचारियों को एकान्त में बुलाकर एक बैठक की। उसमें प्रस्ताव किया कि रेवती तथा रणवीरसिंह की चिट्ठियों से अब इसमें तो सन्देह रहा ही नहीं कि सुशीला आदि पर जो विपत्ति आई है उसका कर्त्ता उदयसिंह है।

ऐसी अवस्था में सूर्यपुर पर चढ़ाई क्यों न की जावे ? और उसे कैद करके सुशीला आदि का पता उसी से क्यों न लगाया जाय ? सूर्यपुर का राज्य हमसे कुछ जबर्दस्त नहीं है और न वहाँ कुछ ऐसी तैयारी है, जिसमें हमें डरने का कोई कारण हो। इसके सिवाय यदि हम चढ़ाई करेंगे तो विजयपुर राज्य से भी हमें सहायता मिले बिना न रहेगी और जहाँ तक मेरा ख्याल है, अपनी सेना भी किसी प्रकार शिथिल नहीं है।

शूरसेन मन्त्री—महाराज ! आपका प्रस्ताव बहुत उचित है। परन्तु वह तब काम में लाया जाता, जब सूर्यपुर राज्य ने अपने साथ खुले मैदान में शत्रुता की होती। यह कार्य केवल एक गीदड़ का है, जो एकबार अपने यहाँ कैद रह चुका है। उसमें महाराज निहालसिंह की सर्वथा सम्मति नहीं है। वे स्वयं बड़े न्यायी और सज्जन राजा हैं, मुझे विश्वास है कि यदि वे अपने पुत्र का यह दुराचार सुन पाते, तो उसे अवश्य ही दंड देते। ऐसी अवस्था में सूर्यपुर पर चढ़ाई करना न्यायसंगत नहीं है।

विक्रमसिंह—यदि ऐसा है और निहालसिंह पर तुम्हारा इतना बड़ा विश्वास है, तो फिर उन्हें एक पत्र के द्वारा इस विषय की सूचना क्यों नहीं दी जाती जिसमें वे उदयसिंह को दण्डित करके यदि उसकी कैद में सुशीला हो, तो छुड़ाकर हमारे यहाँ भिजवा दें।

शूरसेन—परन्तु ऐसा करने में एक बड़ा भारी डर यह है कि यदि उदयसिंह को यह बात मालूम हो जावेगी और उसके अधिकार में सरस्वती होगी। 'मरता क्या न करता' की नीति के अनुसार न जाने वह

क्या अनर्थ करने पर उतारू हो जावे ? और यह संभव नहीं है कि उसे इस बात की खबर न हो। क्योंकि राज्य के प्रधान-प्रधान कर्मचारी उनसे मिले हुये हैं। इसलिये मेरी समझ में जब तक खूब विचार न कर लिया जावे, पत्रादि लिखना भी उचित नहीं है।

विक्रमसिंह—प्रत्येक कार्य विचार करके करना चाहिये, यह ठीक है। क्योंकि अविचार पूर्वक कार्य करने का ही यह फल है, जो आज इस दुःख के देखने का समय आया है। हाय ! वह कितनी बड़ी राजनैतिक भूल थी, जिससे एक विदेशी पुरुष को जो एकबार अक्षम्य अपराध कर चुका था, मैंने अपना विश्वासपात्र सेवक वना लिया था। परन्तु "यह भी नहीं करना" "वह भी नहीं करना" तब क्या हमेशा इसी प्रकार निश्चेष्ट बैठे रहना चाहिये ? तुम्हारे जासूसों ने भी कोई आशाप्रद कार्य करके नहीं दिखलाया जिससे कुछ धैर्य हो। भला ! तुम ही कुछ कहो, उन्होंने कुछ किया है ?

शूरसेन—नहीं महाराज ! ऐसा न समझिये। जासूस लोग बराबर काम कर रहे हैं। सुशीला का पता लग चुका है। रेवती बहुत जल्दी उसको छुड़ा के लावेगी। वहाँ उसकी माया अच्छी तरह से फैल रही है। मुझे वहाँ की रिपोर्ट दूसरे तीसरे दिन बराबर मिला करता है।

विक्रमसिंह—देखो शूरसेन ! तुम्हारी बातों पर मुझे बड़ा भारी भरोसा है, और अभी जो कुछ तुमने कहा है, वह सन्तोष योग्य है। परन्तु वर्तमान में मेरा चित्त ऐसा उद्विग्न और आकुलित रहता है कि, प्रयत्न करने पर भी स्थिर नहीं हो सकता। यदि तुम्हारी सम्मति हो तो इस समय विजयपुर जाकर महाराज रणवीरसिंह तथा अपने सम्बन्धी से मिल आऊँ। उनके परामर्श से चित्त कुछ स्थिर होगा, और जी भी बहला रहेगा। सिवाय इसके उनकी सम्मति से कुछ प्रयत्न भी हो सकेगा।

शूरसेन—महाराज ! विचार उत्तम है। मेरी भी राय है कि आप थोड़े दिनों के लिये विजयपुर जा आवें। ईश्वर ने चाहा तो आपके

लौटने के पहले ही सुशीला विलासपुर में आ जावेगी। साथ ही उदयसिंह और बलवन्त भी अपने चेहरे पर कालिख लगाये हुए आ जावेंगे।

अन्यान्य कर्मचारियों ने भी महाराज के विचार का अनुमोदन किया, और बैठक समाप्त की गई। सब लोग अपने-अपने घर गये और महाराज शयनागार की ओर चले गये। बहुत दिन के पीछे उस दिन उन्होने महाराणी मदनवेगा के साथ प्रेमसंभाषण किया।

दूसरे दिन थोड़े से सवारों को साथ लेकर विक्रमसिह मामूली ढंग से विजयपुर पहुँचे। उनके एकाएक आने से महाराज रणवीरसिह को आश्चर्य और हर्ष हुआ। उन्होंने बड़े प्रेम से उनका स्वागत सत्कार किया और दूसरे दिन सवेरे ही उनके आगमन की खुशी में एक बड़ा भारी दरबार किया।

इस समय अपने सम्बन्धी जौहरी श्रीचन्द, तथा सम्पूर्ण राज्य कर्मचारियों और नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों से मिलकर विक्रमसिह ने प्रसन्नता प्रगट की और यथोचित वार्तालाप किया। इसके पश्चात् वे सुशीला, जयदेय तथा भूपसिह की चर्चा का उपक्रम करना ही चाहते थे कि इतने में दो पुरुष दो गठरी पीठ पर लादे हुए दरबार में उपस्थित हुए।

गठरियों में क्या है, और ये लोग क्या कहते हैं, यह जानने के लिये लोग अतिशय उत्कंठित हुए। महाराज रणवीरसिंह आगत पुरुषों को पहिचान कर प्रसन्न हुए। और बोले—क्यों! कुशल तो है? तब उन में से एक ने कहा—हाँ, महाराज! आपकी कृपा से उदयसिह और बलवन्त दोनों ही आज अपनो कैद में आ गये हैं। और ईश्वर ने चाहा, आज संध्या तक श्रीमती सुशीलादेवी भी बन्धन मुक्त होकर यहाँ आ जावेगी। यह सुनते ही विशेष कर पिछले वाक्यों को सुनकर महाराज विक्रमसिह आनन्द से उछल पड़े। मेघ पटलों के फंट जाने से चन्द्रमा का बिम्ब जिस तरह खिल उठता है, उसी प्रकार उनका शोकग्रस्त मुख प्रसन्नता से खिल उठा। इतने में दूसरे पुरुषों ने

दोनों गठरी खोल दी, दोनों कैदियों ने अपने को एक अचिन्त्य स्थान में हथकड़ी बेड़ियों से विवश देखा। विक्रमसिंह ने कहा—क्यों उदयसिंह ! अब भी तुम अपनी बुराइयों से संप्तृत हुए कि नहीं ? परन्तु उसने उत्तर नहीं दिया। इसी प्रकार बलवन्त से भी कई प्रश्न किये, परन्तु कुछ उत्तर नहीं पाया। तब महाराज रणवीरसिंह की आज्ञा से वे दोनों कारागृह में भेज दिये गये। वहाँ उनके कारण पहरे आदि का जबर्दस्त प्रबन्ध किया गया।

इसके पश्चात् दरबार बरखास्त किया और एक एकान्त स्थान में दोनों नरेशों, मंत्रियों और श्रेष्ठी श्रीचन्द ने मिलकर सूर्यपुर राज्य के और कैदियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ विचार किये। इस पर भी विचार किया गया कि भूपसिंह तथा जयदेव के अन्वेषण करने के लिये और क्या क्या उपाय किये जावें ?

सुशीला के आने के समाचार से श्रेष्ठी श्रीचन्द और उनके कुटुम्बीजन प्रसन्न हुए। परन्तु जयदेव के वियोग के कारण से उनकी वह प्रसन्नता फीकी रही।

— ——

ग्यारहवाँ पर्व

रतनचन्द मुनिराज के साथ-साथ जा रहे हैं। आगे मुनिराज हैं, पीछे रतनचन्द हैं। मुनिराज ईर्यापथ शोधन करते हुए अर्थात् यह देखते हुए कि मार्ग में कोई जन्तु तो नहीं है जिसका प्रमाद से घात हो जावे, गमन कर रहे हैं।

रतनचन्द विचारता है, अहो ! मुनिराजों की दया कैसी अपूर्व और लोकोत्तर है। भला जीवों का परमबन्धु इनके समान और कौन होगा ? जिनकी दृष्टि में शत्रु, मित्र, तृण, कंचन, राजारंक, मूर्ख विद्वान् सब एक समान हैं। पंचमहाव्रत रूप इनके एक अपूर्व सम्पत्ति है। अन्य कोई भी परिग्रह इनके पास नहीं है। शरीर से ऐसी निस्पृहता

कहीं भी नहीं देखी जाती। नग्नपरीषह को सहन करते हुये काम के बाणों को विफल करना इन्हीं का काम है।

यद्यपि नाना प्रकार की तपस्याओं से इनका शरीर क्षीण हो गया है, परन्तु प्रभा चतुर्गुणी है। सामान्य पुरुषों में यह दिव्यप्रभा दिखाई नहीं देती। तप के प्रभाव से इन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हो गया है, इसी से इन्होंने मुझे रतनचन्द कहकर सम्बोधित किया था। वाह! यह भी कैसी दिव्य शक्ति है! इससे दूर-दूर के विषय स्मरण मात्र से प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं।

इसी से अनुमान होता है कि एक ज्ञान ऐसा भी है, जिसमें तीन लोक के त्रिकालगत पदार्थ हस्तामलक हो जाते है। आत्मा पर एक प्रकार का आवरण होता है, जिससे कोई आत्मा अधिक ढका रहता है, कोई उससे कम और कोई उससे भी कम। अर्थात् किसी पुरुष को कम ज्ञान होता है, किसी को उससे अधिक। तब बुद्धि स्वयं स्वीकार करती है कि कोई आत्मा ऐसा भी है, जो इस आवरण से सर्वथा रहित है, उसको सर्वज्ञ कहते है और उसके ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं। इसी अवस्था और इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मुनियों का यह प्रयत्न है। इसी को जैनमार्ग कहते हैं। यही आत्मा का स्वभाव है। अब मुनिराजों की कृपा से मैं भी इस स्वभाव के प्राप्त करने का उद्योग करूंगा। अहा! वह समय कब आवेगा, जब मैं मुनिव्रत अंगीकार करके अपने आत्मकल्याण में लगूंगा।

मेरे कब ह्वै है वा दिन की सुघरी, मेरे कब ह्वै है०—॥ टेक ॥
तन बिनबसन असनबिन वन में, निवसों नासादृष्टि धरी ॥१॥
पुन्य पाप परसों कब विरचों, परचों निजनिधि चिर बिसरी।
तज उपाधि सज सहज समाधि, सहों घाम हिम मेघ—झरी ॥२॥
कब थिर जोग धरों ऐसो मुहि, उपल जान मृग खाज हरी।
ध्यान कमान तान अनुभव सर, छेदों किह दिन मोह अरी ॥३॥
कब तृन कंचन एक गनों अरु, मणि जड़तालय शैलदरी।
'दौलत' सतगुरु चरनसेव जो, पुरवो आश यहै हमरी ॥४॥

इस प्रकार के नाना विचारों में मग्न हुये रतनचन्द ने देखा कि मैं एक उद्यान में पहुँच गया हूँ। इसके पहले अन्यमनस्क रहने के कारण उसे यह मालूम नहीं था कि मैं कहाँ चल रहा हूँ। परन्तु मुनिराज जिनके साथ वह आया था, जब खड़े हो रहे; तब वह भी खड़ा हो गया। उस समय उसने देखा कि एक ऊँचो शिला पर एक महामुनि विराजमान हो रहे हैं और आगत मुनि मस्तक नम्र किये उन्हें नमस्कार कर रहे हैं। शिला के चारों ओर भी बहुत से मुनि बैठे हुए हैं, जिसकी सख्या ५० से कम नहीं है।

ऐसा जान पड़ता है, शिलास्थित महामुनि किसी व्याख्यान का प्रारम्भ करना चाहते हैं और यह मुनिपरिकर उसके सुनने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है। महामुनि संघाधीश आचार्य और मुनिगण शिष्यसम्प्रदाय में हैं। महामुनि के शरीर से एक विलक्षण प्रभा प्रस्फुटित हो रही है, जिसके दर्शन मात्र से उनका मुख्यत्व तथा महत्त्व प्रगट होता है। उनके मुखमण्डल की सौम्यता, शीलता, प्रसन्नता और सरलता देखते ही बनती है।

मौन धारण किये हुए भी उनका शांत शरीर संसार को वैराग्यतत्त्व का निरूपण करता हुआ सा दीख पड़ता है। उनके चारों ओर जो मुनिपरिकर हैं, वह भी एक शांतिता की श्रेणी है। सब ही दिगम्बर मुद्रा के धारण करने वाले मोक्षमार्ग के पथिक हैं। सारांश उस पुन्य परिषद् में सर्वत: शान्ति वैराग्य की अनुपम धारा बह रही है।

जिस स्थान में यह परिषद् विराजमान थी, वह स्थान बड़ा ही सुहावना जान पड़ता था। नाना प्रकार के सुन्दर वृक्षों की पंक्ति चहुं ओर धीर गंभीर भाव से खड़ी थी। मानों मुनियों के संसर्ग से उसने ये गुण प्राप्त किये हों। बीच में थोड़े-थोड़े अन्तर पर अनेक वसतिकायें बनी हुई थीं जो किसी धर्मात्मा ने मुनियों के विश्राम के लिये बनवाई थीं। सैकड़ों बड़ी शिलायें यत्र तत्र पड़ी थीं, जिन पर बैठकर मुनिगण ध्यानस्थ होते थे।

वसतिकाओं के आस-पास छोटी-छोटी हरी-हरी दूब जो कमंड-

लुओं के जल से उग आई थी, मृगगण निडर होकर उसे चरते थे। मानों मुनियों के उस रक्षित राज्य में उन्होंने अपना स्वाभाविक डर-पोकपन भुला दिया था। जो हरिण जरासी आहट पाते ही सिर पर पैर रख के चौकड़ी भरने लगते हैं, वे ही उस निर्भय स्वर्गभूमि से टाले नहीं टलते थे। पक्षीगण भी आनन्दकलरव करते हुए स्वच्छन्दता से यहाँ वहाँ उड़ते फिरते थे।

रतनचन्द ने उस दिव्यमण्डली को देखकर तत्काल ही साष्टांग नमस्कार किया और कहा—"नाथ ! इस शरणागत की रक्षा करो। दुर्जय कर्मों के पंजे में फंसे हुए इस दीनातिदीन को बचाओ ! अनन्त-काल बीत गया, अब ये कर्मों के अत्याचार सहे नहीं जाते।"

यह सुनकर महामुनि ने आसन्न भव्य जानकर रतनचन्द को दया-दृष्टि से निरीक्षण करते हुए धर्मवृद्धि दी और कहा–भव्य ! शांत हो चित्त स्थिर कर, तेरी इच्छा बहुत जल्दी पूर्ण होगी। तुझे अपने घर का विषय चरित्र देखकर जो वैराग्य प्राप्त हुआ है, वह अडोल रहेगा और उसके कारण संसार कारागृह से तुझे थोड़े ही समय में छुट्टी मिल जावेगी। योगीश्वर का आशीर्वाद सुनकर उत्तप्त उद्विग्नचित्त रतनचन्द को कुछ सन्तोष हुआ। नवागतमुग्धवधू के अननुभूत पति–समागम–सुख की कल्पनाओं के समान जैनेश्वरी दीक्षा प्राप्ति के सुख की विचारतरंगों में यह फिर गोते खाने लगा।

इधर योगीश्वर ने अपना व्याख्यान प्रारम्भ किया। अत्याचार सम्बन्धी अनेक गूढ़ विषयों को बड़ी सुगम भाषा में नाना प्रकार के दृष्टान्त दार्ष्टान्तों से उन्होंने सबके हस्तामलकवत् कर दिया। उनकी अपूर्व उपदेश शक्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण श्रोताओं के हृदयकपाट खुल गये। सब ही धन्य धन्य कहने लगे। तदनन्तर रतनचन्द ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, भगवान् ! अब इस जिज्ञासु की ओर भी दृष्टि कीजिये और कृपाकर बतलाइये कि आत्मा का हित क्या है ?

योगीश्वर—भव्यात्मन् ! आत्मा का यथार्थ हित आत्मा के निजस्वभाव की प्राप्ति है। जैसे अपनी विपुल सम्पत्ति के खो जाने से

लोग दु:खी होते हैं और जब तक वह फिर न मिल जावे तब तक खुशी नहीं हो सकते, उसी प्रकार निजस्वभाव रूप सम्पत्ति के लुप्त हो जाने से ये सम्पूर्ण प्राणी दु:खी हो रहे हैं, और उस सम्पत्ति को पुनः प्राप्त किये बिना कदापि सुखी नहीं हो सकते।

यद्यपि संसार के सब ही प्राणियों की यह इच्छ रहती है कि हमें सुख की प्राप्ति हो और दु:ख हमारे पास कभी न फटकने पावें, परंतु हजार प्रयत्न करने पर हजार सिर पटकने पर भी वे सुखी नहीं हो सकते। जिसको देखिये वही दुखी दिखलाई देता है। जिससे पूछिये वही दुखी दिखलाई देता है। जिससे पूछिये वही आपको दुखियों का शिरोमणि बतलाता है और जहाँ सुनिये वहाँ दु:ख ही दु:ख सुनाई पड़ता है।

जानते हो, इसका कारण क्या है ? यही कि वे सुख के यथार्थ स्वरूप को नही जानते हैं और दु:ख में ही सुख की कल्पना किया करते हैं। परन्तु जो अज्ञानी अंगार को सुन्दर शीतल मानकर हाथ में ले लेता है, क्या वह उससे जलकर दु:खी नहीं होता ? अवश्य होता है। इसी प्रकार दु:ख में सुख को कल्पना करने से उन्हें दु:ख सुखरूप नहीं हो जाता, दु:ख ही रहता है। सो ये प्राणी इस भ्रामक सुख की प्राप्ति का प्रयत्न तो करते रहते हैं, परन्तु यथार्थ सुखरूप निजस्वभाव सम्पत्ति को सर्वथा भूल गये हैं, जो कि आत्मा का सच्चा हित है।

रतनचन्द—नाथ ! तो उस आत्महित आत्मसुख अथवा आत्म-स्वभाव को हम लोग क्यों भूल रहे हैं ? एक दो चार नहीं, किन्तु जब सब ही प्राणी उसे पाने का प्रयत्न नहीं करते, तब इसका कोई असा-धारण कारण होना चाहिये।

योगी०—हाँ ! उस आत्मस्वभाव पर एक प्रकार का दुर्निवार परदा पड़ा हुआ है, जिससे हम उसे देख नहीं सकते, विचार नहीं सकते और बिना गुरु के उपदेश के समझ नहीं सकते। यही कारण है कि सामान्य जीवों की प्रवृत्ति उसकी ओर नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ

में स्वभाव और विभाव दो प्रकार के परिणमन करने की शक्ति रहती है। स्वभाव स्वकृत शक्ति है विभाव परकृत विकार शक्ति है। स्वभाव शक्ति कभी नष्ट नहीं होती, परन्तु विभाव रूप परिणमन शक्ति विकार कारणों के पृथक् होते ही नष्ट हो जाती है और जब तक विभाव शक्ति व्यक्त रहती है, तब तक स्वभाव शक्ति अव्यक्त रहती है। और उस अव्यक्त अवस्था में ही अल्पबुद्धि समझ नहीं सकते कि उसका अस्तित्व है या नहीं।

जैसे जल का शीतलपना उसका स्वभाव है और उष्णपना विभाव है। शीतलपना स्वयं होता है, परन्तु उष्णपना अग्नि के संयोग में होता है। जब तक उष्णपना रहता है, तब तक शीतलपना अव्यक्त रहता है। परन्तु शीतलपना के व्यक्त होते ही उष्णपना नष्ट हो जाता है।

इस उष्ण जल में हाथ डालने से जैसे वह आदमी जिसने कभी शीतल जल नहीं देखा सुना है, यह अनुमान नहीं कर सकता कि जल में शीतलपना भी होता है उसी प्रकार स्वभाव शक्ति को भूले हुए जीव उसके प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं कर सकते हैं क्योंकि विभाव के कारण वह शक्ति अव्यक्त रहती है। यह विभाव ही एक प्रकार का परदा है, जिसका अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध है। इसी के कारण आत्मा, पराधीन, दुःखान्तरित और पाप बीजरूप क्षणभंगुर सांसारिक सुखों को सुख मान करके संसार में भटकता फिरता है। और स्वतन्त्र, सदास्थिर एक स्वभावी सुख से अभी तक वंचित है। जब तक वह परदा आत्मा के आगे से सर्वथा न हट जावेगा तब तक उसका निज स्वभाव प्रकट नहीं हो सकता।

रतन०—योगिनाथ! मुझ अल्पज्ञ की समझ में सामान्य कथन से यह बात नहीं आई कि सचेतन आत्मा के साथ उस जड़ रूप परदे का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसलिये कृपा करके उस परदे का और उसके सम्बन्ध का स्वरूप विस्तृत रूप से समझाने की कृपा कीजिये।

योगि०—रतनचन्द ! जल्दी समझ में आने के लिये सामान्य विविक्षा से यह विषय कह दिया है। परन्तु परदा कहने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना है कि आत्मा के स्वभाव पर एक प्रकार का कोई आवरण पड़ा हुआ है जिससे उसके सम्पूर्ण गुण ढके हैं। इसी को जैन शासन में कर्मावरण कहते हैं। अब यह जानना चाहिये कि कर्मावरण क्या चीज है ?

अनन्त आकाश के ठीक बीच में जैसे एक पूरे मृदंग के ऊपर आधा मृदंग रक्खा हो, इस आकार का लोक संस्थित है। यह स्वयं सिद्ध है इसका न कोई बनाने वाला है और न अन्त करने वाला। अनादि काल से ऐसा है, और ऐसा ही रहेगा। इसकी ऊँचाई चौदह राजू और विस्तार ७.१.५.१ राजू अर्थात् मूल में ७ राजू, मध्य में १ राजू ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में ५ राजू और अन्त में एक राजू है। घनवात घनोदधिवात और तनुवात इन तीन वायु मंडलों से वेष्टित हुआ उन्हीं की शक्ति विशेष से आकाश में ठहर रहा है।

इस लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य हैं। इनमें पूर्व कथित अनन्त आकाश द्रव्य सर्वव्यापी तथा सम्पूर्ण द्रव्यों का आधार स्वरूप है। अर्थात् पहले कहे जीवादि पाँचों द्रव्यों के ठहरने का स्थान है। और शेष पाँचों द्रव्य अल्प क्षेत्र व्यापी तथा आधेय स्वरूप हैं। अर्थात् जितने आकाश में शेष पाँच द्रव्य विद्यमान हैं, उसको तथा उन पाँच द्रव्यों को मिलाकर लोक कहते हैं।

रतनचन्द०—भगवन् ? लोक का स्वरूप मैं समझ गया हूँ, परन्तु द्रव्य का स्वरूप अभी तक नहीं जाना है, सो कृपा करके समझाइये।

योगी०—अनन्त गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं। इनमें कुछ तो सामान्य गुण है और कुछ विशेष गुण है। जो गुण दूसरे द्रव्यों में पाये जावे अर्थात् एक द्रव्य में जो गुण हों, वे दूसरे द्रव्यों में भी पाये जावे, उन गुणो को सामान्य गुण कहते हैं। और जो गुण अन्य द्रव्यों में न पाये जावे, केवल एक ही द्रव्य में हो, उन्हे विशेष गुण कहते है। जैसे जीव का प्रदेशत्व

सामान्य गुण है क्योंकि जीव के सिवाय पुन्द्रगलादि द्रव्यों में भी यह पाया जाता है। अर्थात् पुन्द्रगल, धर्म, अधर्मादि द्रव्य भी प्रदेशवान् होते हैं। और चेतना असाधारण विशेष गुण है। क्योंकि जीव के सिवाय अन्य कोई भी द्रव्य चेतनावान् नहीं है।

यद्यपि प्रत्येक द्रव्य में विशेष गुण भी अनन्त होते हैं, परन्तु उनमें एक विशेष गुण ऐसा होता है। जो लक्षण स्वरूप होता है। मिले हुए अनेक पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को भिन्न करने के हेतु को लक्षण कहते हैं। जैसे कि चैतन्य कहने से अनेक द्रव्यों में से वह जीव द्रव्य भिन्न करके समझ लिया जाता है, जो चेतनायुक्त हैं। जिस गुण से जीव (आत्मा) प्रतिभासित होता है, उसको चेतना कहते हैं। अतएव जीव का निर्दोष असाधारण लक्षण चेतना है। इसी प्रकार पुद्गल का लक्षण मूर्तत्व अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-वन्त हैं।

धर्म द्रव्यका लक्षण जीव पुद्गलके गमन करने में सहकारित्व(सहायक) रूप है। अधर्म द्रव्य का लक्षण जीव पुद्गल की स्थिति में सहकारित्व रूप है। आकाश का लक्षण जीवादिक द्रव्यों को अवकाशदातृत्व रूप है और कालद्रव्य का लक्षण जीवादिक पदार्थों के परिणमन कराने में सहकारित्व रूप है। द्रव्यों का संक्षेप से यही स्वरूप है।

इन छह द्रव्यों में एक जो पुद्गल द्रव्य है, जिसे कि जड़ तथा अजीव भी कहते हैं और जिसका लक्षण ऊपर कह दिया गया है, उसके मुख्य दो भेद हैं-एक अणु और दूसरा स्कन्ध। पुद्गल के सबसे छोटे खंड को अणु तथा परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं।

इसके अनेक भेद हैं, जिसमें से एक स्कन्ध-विशेष को कर्माणवर्गणा कहते हैं, जो कि संसार में प्राय: सर्वत्र भरी हुई हैं, और जिनकी संख्या अनंत हैं। जिस प्रकार आग में तपाया हुआ लोहे का गोला जल में डालने से वह अपने चारों तरफ के जल को खींचता है, उसी प्रकार यह आत्मा राग द्वेष से संतप्त होकर कार्माण वर्गणाओं को अपने चारों ओर से आकर्षित करता है।

इस कार्माणवर्गणा और जीव के सम्बन्ध को बंध कहते हैं। और

जीव से संबन्ध प्राप्त कार्माण वर्गणा को ही कर्म कहते हैं। इनके कारण आत्मा के ज्ञानादिक गुणों का घात होता है अर्थात् ज्ञानादिक गुण ढक जाते हैं। इसी से इन्हें कर्मावरण अथवा कर्मरूपी परदा कहते हैं।

रतन०-मुनिनाथ ! आत्मा रागद्वेषादि के कारण संतप्त होकर कर्मबन्ध करता है, यह ठीक है। परन्तु रागद्वेषादि भी तो आत्मा के स्वभाव नहीं हैं-विभाव हैं, जो कि परकृत होते हैं। अतएव यह बतलाइये कि उनका उत्पन्न करने वाला कौन है ?

मुनि०-जीव और कर्म का संबन्ध अनादि काल से बीज वृक्ष के समान चला आता है। अर्थात् जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार से आत्मा और कर्म का निरन्तर से अनादि सन्तान रूप क्रम बन्ध है। कोई समय ऐसा नहीं था, जब बिना वृक्ष बीज उत्पन्न हुआ हो। इसी प्रकार कर्म के निमित्त से रागद्वेषादि भाव उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादिक भावों के कारण कर्मबन्ध होता है। अर्थात् रागद्वेष होने में पुरातन कर्मबन्ध हेतु है, और नवीन कर्मबन्ध होने में रागद्वेष हेतु हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ जबकि, बिना रागद्वेषों के कर्मबन्ध हुआ हो, अथवा पूर्व कर्म बन्ध के बिना रागद्वेष उत्पन्न हुए हों। सारांश यह है कि, यह संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्ध सहित है। अर्थात् प्रारंभ से ही उस पर कर्मावरण पड़ा हुआ है। यह कर्मावरण आत्मा के स्वभाव में अनेक प्रकार के विकार करता है, जिसके कारण वह नाना प्रकार के दुःख भोगता है, और भ्रामक कल्पना में पड़ कर उस स्वभाव सुख से वंचित रहता है, जो अचिंत्य अनुपम और अनंत है।

इतना कहकर मुनिराज ने सामायिक का समय समीप आया जानकर उस दिन का व्याख्यान समाप्त किया।

बारहवाँ पर्व

सुवर्णपुर के अन्तः पुर में खलबली मच रही है। सखियाँ घबड़ाई हुई भाग रही हैं। कोई महाराणी को खबर देने के लिये दौड़ी है, कोई महाराज को बुला लाने के लिये जा रही है, और कोई शीतोपचार की सामग्री जुटा रही है। अनेक सखियाँ मदन मालती को चारों ओर से घेरे हुए खड़ी है। उनमें कोई पंखा झुला रही है, कोई शीतल जल के छींटे दे रही है, किसी का हाथ नब्ज (नाड़ी) पर है, कोई मुख-कमल पर बिखरे हुए पसीने के कनूकों को रुमाल से पोंछ रही है और कोई निश्चल निस्तब्ध है। सबके चेहरों पर एक प्रकार का आश्चर्य भाव झलक रहा है।

मदन मालती मूर्छित अचेत है। आज उसकी सुहागरात्रि थी, इसलिये उसका नख से शिख पर्यन्त सारा शरीर रत्न जड़ित आभूषणों और अनुपम शृङ्गारों से सुसज्जित हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है मानों तारागणों का एक स्वरूपवान् सुडौल पिण्ड है। उसके खुले हुए मुखकमल की शोभा देखते ही बनती है।

बड़े-बड़े खंजन मद भंजन नेत्र, धनुषाकार भ्रू युगुल, लाली लिये हुए गोलकपोल, और कुंदरु के फल सरीखे सुन्दर अधर देखकर जी चाहता है कि इसे देखते ही रहें। वामकपोल पर सुन्दर तिल ऐसा जान पड़ता है मानों विधि चित्रकार की कलम में से मुखचन्द्र का चित्र खींचते हुए स्याही का एक बिंदु गिर पड़ा हो। वक्ष स्थल पर से अंचल अलग हो गया है, इसलिये उसके कमनीय कुचयुगलों पर पड़ी हुई मोतियों की माला कमलकलिकाओं पर पड़े हुए जल के कनूकों की शंका उत्पन्न करती है।

थोड़ी देर में महाराणी दोड़ी आई। तब तक प्रयत्न करने से मदन-मालती की मूर्छा दूर हो गई, सचेत होने पर पूछा—बेटी ! तुझे अचानक यह क्या हो गया था ? परन्तु कुछ उत्तर नहीं मिला। लज्जा के मारे सिर नीचा करके वह चुप हो रही। इतने में एक चन्द्र-

लेखा नाम की सखी वहीं पर पड़ी हुई एक चिट्ठी जो मदनमालती की असावधानी से गिर गई थी, उठाकर बाँचने लगी, उसे पढ़कर वह एक आह खींचकर रह गई।

यह देख महाराणी ने पूछा चन्द्रलेखा ! तू अभी यह क्या पढ़ रही थी ? और यह आह क्यों खींची ? चन्द्रलेखा जी के दुःख को छुपा न सकी, इसलिये भूपसिंह की चिट्ठी उनके हाथ में देकर वह बोली- माता यह पढ़िये, कुमार भूपसिंह कैसे कठोर हृदय के निकले ? कैसे समय में प्रवंचना करके वे चले गये ! कुमारी की मूर्छा का यही कारण था। अफसोस कि बिना कहे सुने ही चला जाना उन्होंने अच्छा समझा।

क्या हर्ज था, सबसे बिदाई लेकर हंसी खुशी से जाते। उन्हें कौन रोक सकता था ? महाराणी ने भी चिट्ठी पढ़कर एक दीर्घ निश्वास ली आँखों में आँसू भर लाई, उन्हें अंचल से पोंछते हुए उन्होंने कहा- चन्द्रलेखा ! क्या लिखा जावे, भाग्य की बात है। उस पर किसी का वश नहीं है। कुछ विचारा था, कुछ हो गया। कठिनाई से सुख के दिन आये थे सो विधि की गति से दुःख में परिणत हो गये। परन्तु अब खेद करने से क्या ? मदनमालती स्वयं बुद्धिमती है। वह इन सब बातों का विचार कर सकती है। और यह भी तो सोचो कि भूपसिंह ने अपनी चिट्ठी में जो कुछ लिखा है, उससे कृतज्ञता, उदारता, इन्द्रियनिग्रहता आदि गुणों की कितनी अधिकता प्रतीत होती है ? अपने मित्र के लिये जो अपने सम्पूर्ण सुखों पर छार डाल सकता है, उसे एक महापुरुष ही समझना चाहिये। और इससे मदनमालती को इस बात का अभिमान होना चाहिये कि मुझे कैसा गुणवान पति मिला है। बल्कि एक प्रकार का शोक के स्थान में उसे हर्ष होना चाहिये, जो मोह की सबसे कठिन परीक्षा में उसका पति उत्तीर्ण हो गया और परोपकार के अद्वितीय सत्कार का भाजन हुआ। जो दूसरे के दुःख से दुःखी होता है, उसी पुरुष का जीवन सफल है, नहीं तो अपने सुख की

खोज में अपना पापमय जीवन कौन समाप्त नहीं करता ! और भूप-सिह ने आश्वासन भी तो दिया है। वे बहुत जल्दी आवेंगे।

तुम सबको चाहिये कि निरन्तर उनकी मंगलकामना करती रहो, और भगवान् से इस विषय में प्रार्थी रहो। अच्छा, तो अब मैं जाती हूँ तुम सब लड़की को समझा बुझाकर ऊपर ले जाओ और उसका मन बहलाओ, मैं महाराज से कहकर भूपसिह की खोज के लिये यदि उचित समझा गया, तो एक दो चतुर पुरुष भिजवाऊँगी।

महाराणी चली गई। सखीगण मदनमालती को उसकी आज्ञा-नुसार महल की छत पर ले गई। आकाश स्वच्छ था। तारिका प्रभा और चांदनी छिटक रही थी। खसखस की टट्टियों से और चारों तरफ रक्खे हुए फूलों के सुन्दर गमलों में से शीतल सुगन्धित हवा के झोंके आ रहे थे। और भी नाना प्रकार की शीतल सामग्रियों से उस ग्रीष्म को शिशिर ऋतु बना रक्खी थी।

ऐसे नहीं जान पड़ता था कि यह वही ग्रीष्मकाल है, जो बेचारे दीनहीन पुरुषों को उनकी जर्जर कुटीरों में झुलसा रहा है। कैसा अन्याय है।

जिसके राज्य में रहकर पुरुष स्वर्गसुखों का अनुभव करता है, उसी के राज्य में दूसरा नारकीय वेदनायें सहता हुआ दिन काटता है। जबर्दस्त के दो हिस्से होते हैं। जुलमी से भी जुलमी राजाओं को जबर्दस्त लोग शीतल बना लेते है, इसका अनुभव वहां अच्छी तरह से होता था। मादनमालती वहीं पर पड़े हुए एक पलंग पर लेट गईं, जिस पर सुन्दर पुष्पों की शय्या बिछी हुई थी। सखीजन चारों ओर घेरकर बैठ गई। कोई पंखा झलने लगीं, कोई गुलाबपाश लाकर उसके उदास मुख पर गुलाब जल छिड़कने लगीं, और कोई-कोई मसखरे-बाज मीठी चुटीली कहानियाँ कहकर आनन्द और हास्य की वर्षा करने लगीं, परन्तु कुछ भी फल नहीं हुआ।

मदनमालती का मुरझाया हुआ मन फिर डहडहा नहीं हुआ। वह चाँदनी में चुरने लगी, शीतल समीर में झुलसने लगीं, और सखियाँ

की कहानियों से ऊब उठी। ऊँची २ उसासें लेने के सिवाय वह सब प्रकार से निश्चेष्ट हो रही। भाग्य के फेर से सुखदाई पदार्थ भी दुःख-दाई हो जाते हैं। परन्तु यथार्थ में पदार्थों में सुख दुःख देने रूप कोई भी शक्ति नहीं है। सुख और दुःख मान लेना आत्मा का कार्य है। जिसे आत्मा सुखरूप मान लेता है, वह सुखदाता हो जाता है। और जिसे दुःख रूप मान लेता है, वह दुःख दाता हो जाता है। पानी को बरसाता हुआ देखकर किसान सुखी होता है, परन्तु पथिक दुःखी होता है। क्यों ? इसलिये कि वह उसमें सुखरूप कल्पना कर लेता है, और वह दुःखरूप अस्तु, इस वेदान्तज्ञान के लिखने का हमको अवकाश नहीं है। अभिप्राय केवल इतना है कि वे सब सुख की सामग्री मदनमालती को वियोगकल्पना से दुःख ही दुःखरूप दिखने लगी। बेचारी सखियों का कुछ भी उपाय सफलीभूत नहीं हुआ।

अनुमान दो घण्टे तक मदनमालती का यही हाल रहा। इतने में एक शान्तरूपा ब्रह्मचारिणी वहाँ पर आई, जिसे देखते ही मदनमालती सम्हलकर खड़ी हुई और अपनी विरहदशा को छुपाती हुई प्रणाम करके, ब्रह्मचारिणी के बैठ जाने पर विनय के साथ बैठ गई। यह ब्रह्मचारिणी मदनमालती की अध्यापिका थी। बालकपन से इसी के पास वह पढ़ती लिखती है। इसी कारण मदनमालती उसका इतना विनय करती है।

ब्रह्मचारिणी ने कुशल प्रश्न के पश्चात् कहा—मालती! महाराणी के द्वारा चिरन्जीवी भूपसिंह दुःख के समाचार सुनकर मैं तुम्हारे पास दौड़ी आई हूँ। तुम्हें मैं बहुत बुद्धिमती और सुशीला बालिका समझती हूँ। इसलिये इस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं देखती। संसरणरूप संसार में ऐसे सैकड़ों उलट-पुलट प्रतिदिन हुआ करते हैं, और विचारशील पुरुष उन्हें सदा धैर्य्य से सहन करते हैं। यह सब अपने पूर्व कर्म के पापों का उदय है। इनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है। धैर्य धारण करके भोगोगी, तो भोगना पड़ेंगे, और विचलित शोकित होकर भोगोगी, तो भोगना पड़ेगा। परन्तु जो

धीरता से सहन कर लोगी तो इतना लाभ होगा, कि आर्तध्यान से नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होवेगा। अन्यथा यह तो भोगना ही है और इससे नवीन कर्मबन्ध करके आगामी काल में फिर उनके उदय फल, के भोगने की अधिकारिणी होओगी।

इसलिये प्यारी बेटी ! दुःख को विस्मरण करके जितने दिन तक यह वियोग-रात्रि रहें, और पति संयोग रूपी दिवस का उदय न हो तब तक एक भुक्ता होकर रह और सौभाग्य मात्र शृंगार को रखकर निरन्तर जिनेन्द्र देव का स्मरण किया करो। अपने प्राणनाथ के गुणों का सदा चिन्तवन और उसकी मङ्गल कामना करना प्रत्येक कुलीन स्त्री का धर्म है।

पति के वियोग में दुःखी होने से ही कोई स्त्री पतिव्रता नहीं कहला सकती, क्योंकि उसमें उसका सुख स्वार्थ है। सुख स्वार्थ के नष्ट होने पर कौन दुखी नहीं होता ? परन्तु जिस स्त्री के वियोगावस्था में ऐसे उच्च विचार रहते हैं कि "मैं दुःखी हूँ, सो तो अपने कर्म के उदय से हूँ परन्तु मेरे जीवनाधार को किसी प्रकार का कष्ट न हो। वे सुख से रहें। मेरे वियोग का दुःख भी उन्हें न सतावे। क्योंकि जो उनका सुख है वही मेरा सुख है।" वही सच्ची पतिपरायणा स्त्री है।

जो स्त्रियाँ प्रतिदिन जिनदेव की पूजा करती हैं, संयम से रहती हैं, धर्मध्यान में लगी रहती हैं और दुखिया भूखे जीवों पर दया करके दान दिया करती हैं, उन्हें उनके पति बहुत शीघ्र आकर मिलते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण सुखों की जड़ धर्म है। धर्म की महिमा वचन से नहीं की जा सकती।

मदनमालती यह सब सुनकर रह गई, उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। परन्तु उसकी मुखमुद्रा देखकर ब्रह्मचारिणी जान गई कि मेरे कहने का इस पर कुछ असर हुआ है। और उसी समय दासियों को कुछ और भी समझा बुझाकर वहाँ से चली गई। इसके पश्चात् मदन-मालती ने शोक परित्याग कर दिया और वह अपनी गुरानी की आज्ञा-

कुसार उसी दिन से व्रतनियम संयम पूर्वक रहने लगी। एक सदावर्त भी उसने शीघ्र खोल दिया, जिसमें सम्पूर्ण दीन दुखियों को भोजन वस्त्र दिये जाने की व्यवस्था हो गई।

तेरहवाँ पर्व

दूसरे दिन फिर मुनिपरिषद् एकत्र हुई। सामान्य व्याख्यान हो चुकने पर रतनचन्द्र ने खड़े होकर विनयपूर्वक पूछा—भगवान्! आज कृपा करके यह बतलाइये कि कर्म कितने प्रकार के हैं, उनका आत्मा से सम्बन्ध किस प्रकार होता है, वे फल किस प्रकार देते हैं और फिर आत्मा से उनका सम्बन्ध किस प्रकार से छूटता है।

मुनिराज—कर्म के मुख्य भेद आठ हैं-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से पहला ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण का घात करता है। अर्थात् जब ज्ञानावरणी जाति के कर्मवर्गणाओं से आत्मा का सम्बन्ध होता है, तब उसकी ज्ञानरूप शक्ति पर एक प्रकार का परदा पड़ जाता है, जिससे वह शक्ति अपना काम नहीं कर सकती। आत्मा की स्वाभाविक ज्ञानशक्ति इतनी है कि यदि उस पर कोई आवरण न हो, तो वह संसार के तीनकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को एक समय में जान सकता है परन्तु इन कर्मों से ढके रहने के कारण वह उतना नहीं जान सकता अथवा थोड़ा बहुत उपशम होने से अर्थात् आवरण के न्यूनाधिक होने से थोड़ा बहुत जान सकता है।

दूसरा दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शनगुण का घात करता है। अर्थात् उसके कारण आत्मा की अनन्त दर्शन शक्ति ढकी हुई रहती है।

तीसरा वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण का घात करता

है। अर्थात् वेदनीय जाति की कार्माणवर्गणाओं के सम्बन्ध से आत्मा की बाधारहित शक्ति ढक जाती है।

चौथे मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय की कर्मवर्गणाओं से आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण दब जाता है और चारित्रमोहनीय से चारित्र गुण ढक जाता है।

आयुकर्म आत्मा के अवगाहन गुण का घात करता है। गोत्रकर्म अगुरुलघु का घातक है और अन्तरायकर्म वीर्य (पराक्रम) गुण का घातक है।

उदाहरण के लिये ज्ञानावरणीय का स्वभाव परदे के समान है। जिस प्रकार परदा पदार्थ को यथार्थ नहीं देखने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म पुद्गल आत्मा के प्रदेशों से सम्बन्ध करके तत्त्व-ज्ञान नहीं होने देते। दर्शनावरणीय का स्वभाव द्वारपाल के समान है। अर्थात् जिस प्रकार द्वारपाल परका दर्शन नहीं होने देते, उसी प्रकार इस कर्म के परमाणु परका दर्शन नहीं होने देते।

मोहनीय का स्वभाव मदिरा के समान है। अर्थात् जिस प्रकार मदिरा जीवों को असावधान कर देती है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म आत्मा को संसार में पागल-सा बना देता है।

वेदनीय का स्वभाव शहद लपेटी छुरी के समान है। जैसे छुरी चाटने से मीठी लगती है, परन्तु आखिर जीभ का छेदन करती है उसी प्रकार वेदनीय थोड़े समय के लिये साता दिखाकर असाता से पीड़ित रखता है।

आयु का स्वभाव खोड़े (काठ) के समान है। जैसे खोड़े में चोर का पाँव अटका देते हैं और जिस प्रकार उसके रहते चोर नहीं निकल सकता उसी प्रकार आयुकर्म के पूर्ण हुए बिना आत्मा नर-कादि से नहीं निकल सकता।

नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के समान है। जिस प्रकार चित्र-

कार नाना प्रकार के आकार बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म आत्मा से सम्बन्ध करके नाना प्रकार मनुष्य तिर्यंचादि आकार बनाता है।

गोत्रकर्म का स्वभाव कुंभकार के समान है। जिस प्रकार कुंभकार छोटे बड़े नाना प्रकार के बर्तन बनाता है उसी प्रकार गोत्रकर्म नीचे ऊंचे गोत्रों में उत्पन्न करता है। और अन्तराय का स्वभाव उस राजभंडारी के समान है, जो राजा के दिलाने पर भी किसी को दान नहीं देता। जैसे भंडारी भिक्षुकों को लाभ नहीं होने देता उसी प्रकार अन्तराय कर्म आत्मा के दानलाभादि में विघ्न डाल देता है।

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि जिस समय आत्मा रागद्वेष से सन्तप्त होता है उस समय उसके साथ कार्माणवर्गणाओं का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को ही बन्ध कहते हैं। यह बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध। कर्म में आत्मा के गुणों के घात करने की शक्ति का नाम प्रकृतिबन्ध है। अर्थात् सामान्य कर्मवर्गणा के परमाणुओं में जब ऊपर कहे अनुसार ज्ञान दर्शन आदि आत्मा के गुणों के घात करने रूप पृथक्-पृथक् स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं, तब वह प्रकृतिबन्ध कहलाता है।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मवर्गणाओं, संसारी जीव के प्रदेशों और पुद्गल के प्रदेशों के एकक्षेत्रावगाही होने को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

कार्माणवर्गणाओं का उनके स्वभाव से च्युत न होने को अर्थात् कौन वर्गणा कितने समय तक आत्मा के साथ बन्धरूप रहेगी इस प्रकार की स्थिति का प्रमाण बन्धने को स्थितिबन्ध कहते हैं और कर्मों की हीनाधिक फलदान शक्ति को अनुभागबन्ध कहते हैं।

इन चार प्रकार के कर्मबन्धों में प्रकृति और प्रदेशबन्ध योगों से होते हैं। और स्थिति तथा अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं। यहाँ तुम्हें यह भी जान लेना चाहिये कि पुद्गलविपाकी शरीर नामक नामकर्म के उदय से मन-वचनकाय संयुक्त जीव की उस शक्ति विशेष को योग कहते हैं जो कर्मों के आगमन में कारणस्वरूप होती है। और

आत्मा के क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणामों को कषाय कहते हैं।

प्रत्येक कर्म की मुख्य चार अवस्था होती है-उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम। कर्म अपनी बन्धी हुई स्थिति को पूर्ण करके जिस समय फल देता है, उस समय की फलदान अवस्था को उदय कहते हैं जैसे किसी जीव ने पांच वर्ष के लिये कोई कर्म बांधा और वह पांच वर्ष के योग्य आबाधा स्थिति पूरी करके जब कर्मफल देने के सम्मुख हुआ तब उसकी उस अवस्था को उदय अवस्था कहते हैं।

कारणवश कर्मशक्ति की अनुद्भूति होने को उपशम कहते हैं। जैसे मैले जल से भरे हुए गिलास में निर्मली डाल देने से उसका मैल नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ जल हो जाता है, उसी प्रकार से जीव के परिणामों के निमित्त से कर्मरूपी मल कुछ काल तक फल देने योग्य नहीं रहता है, उस अवस्था को उपशम कहते हैं।

आत्मा से किसी कर्म के सर्वथा छूट जाने को क्षय कहते हैं।

कर्म के जो आठ भेद पहले कह चुके हैं, वे मुख्यता से दो प्रकार के हैं—एक घाती और दूसरे अघाती। जो जीव के गुणों का घात करते हैं, उन्हें घाती कहते हैं और जो घात नहीं करते हैं, उन्हें अघाती कहते हैं। इसी प्रकार घाती के दो भेद हैं-एक देशघाती और दूसरा सर्वघाती। कर्म के समूह के स्पर्धक और जितने कर्मपरमाणु एक समय में उदय आवे, उतने परमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं। वर्तमान निषेक में सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावक्षय अर्थात् बिना फल दिये ही आत्मा से छूट जाना, देशघाती स्पर्धकों का उदय और वर्तमान निषेक को छोड़ आगे के निषेकों का सत्ता अवस्थारूप उपशम कर्म की ऐसी मिश्रित अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं।

कर्म और जीव का सम्बन्ध हम समझते हैं तुम्हें अवगत हो चुका होगा। अब यह बतलाना है कि अनादिकाल से इन कर्मों के पंजे में फंसा हुआ आत्मा उनसे छुटकारा किस प्रकार से पाता है। पहले कहा जा चुका है कि बन्ध के कारण योग्य और कषाय हैं। इस-

लिये यह बात हर कोई की समझ में आ सकती है कि मोक्ष का उपाय योग्य कषाय के अभावरूप होगा। क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव हो जाता है। इसलिये यह विचारना चाहिये कि योग कषाय का अभाव किस प्रकार से होता है।

यह तो निश्चय ही है कि योग कषाय का अभाव सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। क्योंकि किसी कार्य के करने का जब तक यथार्थ ज्ञान न होगा, तब तक उसका सिद्ध होना असम्भव है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। अर्थात् जब सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सहित योग कषाय के अभाव रूप चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों ही जीव के भिन्न-भिन्न गुण हैं। जिस प्रकार अन्धकार का नाश होने पर सूर्य की किरणों से समस्त दिशायें एक प्रकार की निर्मलता धारण करती हैं, उसी प्रकार दर्शन मोह के उपशम होने पर जीव के एक प्रकार की निर्मलता होती है, और उसी को सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा जैसे कोई मनुष्य मद्य अथवा धतूरे के नशे से मूर्छित हो जाता है, परन्तु कुछ काल पीछे उसे नशे के दूर होने पर उसका चित्त एक प्रकार के उल्लास (नीरोगता) रूप होता है उसी प्रकार अनादिकाल से यह जीव दर्शन मोहनीय के हित के विषय में मूर्छितसा हो रहा है। परन्तु कारण विशेष से दर्शन मोहनीय का उपशम होने पर उस जीव के आत्महित के विषय में कपाट से खुल जाते हैं। उस समय उसके एक प्रकार का जो प्रासाद (नैर्मल्य) प्रगट होता है, उसी को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जिसको यह सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया वही जीव अपने आत्मा का अनुभव कर सकता है। इस अनुभव को स्वानुभूति कहते हैं। यद्यपि स्वानुभूति ज्ञान का ही परिणाम विशेष है, तथापि वह सम्यग्दर्शन के बिना किसी जीव के नहीं होता। इसीलिये किसी-किसी आचार्य ने स्वानुभूति को ही उपचार से सम्यग्दर्शन कहा है। श्रद्धा, रुचि और

प्रतीति ये तीनों ज्ञान की पर्याय हैं। तत्त्वार्थ के सन्मुख बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। तत्त्वार्थ के ग्रहण को रुचि कहते हैं और तत्त्वार्थ के विश्वास को प्रतीति कहते हैं। शुभकर्म में मन, वचन, काय के व्यापार को आचरण कहते हैं। इन श्रद्धादिक गुणों में से किसी जीव के एक, किसी के दो, किसी के तीन और किसी के चारों गुण होते हैं। जब ये श्रद्धादि गुण स्वानुभूति सहित होते हैं तब तो गुण रूप ही होते हैं परन्तु जब स्वानुभूति रहित होते हैं, तब वे तदाभास अर्थात् मिथ्यात्वरूप होते हैं। इसलिये स्वानुभूतिसहित श्रद्धा आदि को उपचार से सम्यग्दर्शन कहते हैं।

रतनचन्द—भगवान्! आपकी कृपा से मैंने कर्मविषय को ठीक-ठीक जान लिया। अब जैनशासन में सप्त तत्त्व कौन-कौन से माने हैं और उनका स्वरूप क्या है, यह जानने की मेरी उत्कट इच्छा है।

मुनिराज--रतनचन्द! जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व हैं। इनमें से तुम्हें जीव, अजीव और बन्ध का स्वरूप सामान्यतः बतला दिया जा चुका है, शेष चार के विषय में कहना बाकी है। तो भी यहाँ पर प्रकरण के सम्बन्ध से सबको ही कह देना उचित होगा।

दो प्रकार के हेतुओं का सन्निधान होने पर उत्पन्न हुए चैतन्यरूप परिणाम को उपयोग कहते हैं। और यह उपयोग ही जीव का लक्षण है। इसके दो भेद हैं—एक दर्शनोपयोग और दूसरा ज्ञानोपयोग। आत्मा के प्रतिभास का नाम ज्ञान है। दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग दोनों ही एक चेतना गुण की पर्याय हैं।

जीव के दो भेद हैं—मुक्त और संसारी। जो कर्मबन्धन से छूट करके स्वाधीन, शाश्वत, अविनाशी सुख का अनुभव करते हैं, उन्हें मुक्त कहते हैं। और जो दुःखरूप संसार में परिभ्रमण किया करते हैं उन संसारी जीवों के दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। जिनमें से त्रस द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ऐसे चार प्रकार के हैं।

पञ्चेन्द्रिय के समनस्क (मनसहित) और अमनस्क (मनरहित) दो भेद हैं। और समनस्क जीवों के देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी ये चार भेद हैं। स्थावर जीवों के पाँच भेद हैं-पृथ्वी, जल तेज, वायु, और वनस्पति। वनस्पति के दो भेद हैं-प्रत्येक और साधारण। जिस वनस्पति में एक शरीर का एक स्वामी हो, उसे प्रत्येक और जिसमें एक शरीर के अनेक स्वामी हों, उसे साधारण कहते हैं।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और साधारण वनस्पति के वादर और सूक्ष्म ये दो-दो भेद हैं। पृथिवी आदि से जिनका अवरोध (रुकावट) न हो सके, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। और जिनका अवरोध हो जावे, अर्थात् जो पृथ्वी आदि को पार करके न जा सकें, उन्हें वादर कहते हैं। चेतना रहित द्रव्यों को अजीव कहते हैं। उनके पुद्गल, धर्म, अधर्मादि पाँच भेद हैं, जिन्हें छह द्रव्यों के वर्णन में कह चुके हैं।

आत्मा और कर्म के परस्पर प्रवेश होने को बन्ध कहते हैं। कर्म-के द्रव्यकर्म और भावकर्म दो हैं। पुद्गलपिंड को द्रव्यकर्म कहते हैं। और उस कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि परिणामों को भाव-कर्म कहते हैं। बन्ध के तीन भेद हैं—भावबन्ध, द्रव्यबंध और उभय-बन्ध। रागरूप परिणाम होने को भावबन्ध, कार्माणवर्गणा के स्कंधों में आत्मा के साथ बंधने की शक्ति को द्रव्यबंध और आत्म-प्रदेश तथा कर्मरूप हुए पुद्गल प्रदेशों के परस्पर सम्बन्ध होने को उभयबन्ध कहते हैं।

बन्ध के कारण को आस्रव कहते हैं। इसके चार भेद हैं—द्रव्य बन्धका उपादानकारण, द्रव्यबन्ध का निमित्तकारण, भावबन्ध का उपादानकारण और भावबन्ध का निमित्तकरण। जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है, अथवा जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है उसे कारण कहते हैं, यह निमित्त और उपादान इस प्रकार दो भेदरूप होता है। जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणमे उसे उपादानकारण कहते हैं जैसे मिट्टी घड़े की उपादानकारण है। क्योंकि वह स्वयं घटरूप हो जाती है। और जो पदार्थ दूसरे की उत्पत्ति में सहायक होता है, उसे

निमित्तकारण कहते हैं जैसे घड़े के बनने में कुम्हार के दण्ड, चक्र आदि कारण हैं। अभिप्राय यह है कि द्रव्य अनादिकाल से जो अनन्तपर्यायें धारण करता रहता है, उन पर्यायों में पूर्वक्षणवर्ती पर्याय को उपादानकारण और उत्तरक्षणवर्ती (आगामी) पर्याय को कार्य कहते हैं। घड़े की पूर्वक्षणवर्ती मिट्टी पर्याय उपादानकारण और उत्तरक्षणवर्ती घड़े की पर्याय कार्य है।

जिस समय आत्मा और कर्म ये दोनों बन्ध पर्याय को पाते है, उसके पहले क्षण में जो कार्माण वर्गणाओं के स्कन्ध बन्ध के सम्मुख थे, अर्थात् बंधना चाहते थे, वे द्रव्यबन्ध के उपादानकारण और आत्मा के रागादि परिणाम द्रव्यबन्ध के निमित्तकारण हैं।

इसी प्रकार जिस समय आत्मा भावबन्धरूप पर्याय में परिणत है, उसके पूर्व क्षण में आत्मा की जो कुछ पर्याय हैं, वे भावबन्ध के उपादानकारण और उदय तथा उदीरणा अवस्था को प्राप्त पूर्व के बंधे हुए कर्म भावबन्ध के निमित्तकारण हैं। क्योंकि यह आत्मा उन्हीं कर्मों के निमित्त से रागादिस्वरूप भावबन्ध पर्याय को प्राप्त होता है।

आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं। यह दो प्रकार का है—द्रव्यसंवर और भावसंवर। आते हुए कर्म के रुकने को द्रव्यसंवर और आत्मा के गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा तथा चारित्ररूप भावों को भावसंवर कहते है। भावसंवर कारण है और द्रव्यसंवर कार्य है।

मन, वचन, कार्य के योगों के भलीभाँति निग्रह को गुप्ति, प्रमाद के रोकने को समिति, उत्तमक्षमा आदि आत्मा के दस स्वभावों को धर्म, भूख, प्यास आदि बावीस परीषहों के जीतने को परीषहजय, इच्छा के निरोध को तप, अनित्यादि बारह भावनाओं के चितवन को अनुप्रेक्षा और सामायिकादि पांच संयमों को चारित्र कहते हैं।

कर्म के एकदेश क्षय को (खिरने को) निर्जरा कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा। आत्मा से एक देश कर्मों के छूट जाने को द्रव्यनिर्जरा और जिन भावों से वे कर्म छूटते हैं, उन्हें

भाव-निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के सविपाक और अविपाक ये भी दो भेद हैं। अनादिकाल से जिनका आत्मा के साथ बीजवृक्ष का सा सम्बन्ध है, उन कर्मों का अपनी स्थिति पूरी होने पर फल देकर खिर जाने को सविपाकनिर्जरा कहते हैं। और जो कर्म उदय में न आये हों, उन्हें तप के बल से उदयावली में आकर खिर जाने को अविपाक-निर्जरा कहते हैं।

बन्ध के कारणों के अभाव और निर्जरा के सद्भाव से समस्त कर्मों से मुक्त हो जाने को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के भी दो भेद हैं-द्रव्य-मोक्ष और भावमोक्ष। आत्मा तथा कर्म के परस्पर सम्बन्ध छूटने को द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्ष के कारणभूत परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं।

समस्त कर्मों से रहित होने पर यह आत्मा अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव से ऊपर गमन करके लोक के अन्त में बिराजमान हो जाता है। धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण उसकी लोक के बाहर गति नहीं होती। और उस मुक्तात्मा के रागद्वेषादिकों का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसीलिये फिर कर्मबन्ध नहीं होता और इस कारण चतुर्गतिरूप संसार में उसका परिभ्रमण नहीं होता। मोक्षमहल में वह सदाकाल अवि-नाशी अतीन्द्रिय सुख का अनुभवन करता है।

सप्ततत्त्व का स्वरूप समाप्त हो चुकने पर उस दिन की व्याख्यान सभा भी समाप्त की गई।

चौदहवाँ पर्व

हीरालाल जौहरी रतनचन्द का इकलौता पुत्र था। जब हीरा-लाल उत्पन्न हुआ था, तब रतनचन्द की माता जीवित थी। नाती का जन्म सुन कर उसके आनन्द का पार नहीं रहा था—अपनी एक पडोसिन ब्राह्मणी को बहुत सी दान दक्षिणा देकर उसने कहा था, राधा! आज मेरा अंधेरा घर प्रकाशमान हो गया। तुम्हारे सबके

पुण्यप्रताप से मेरा यह दीपक जगमगाता रहे, मेरी यही लालसा है। अब मैं अपने नाती को गोदी में लिये हुए बड़े आनन्द से मरूंगी। अब मुझे किसी बात की अभिलाषा नहीं।

रतनचन्द की माता बड़ी भोली और सीधी-साधी थी। अपने पुत्र के समान अपनी बहू रामप्यारी पर भी वह निःसीम प्रेम रखती थी। रामप्यारी के सिर में जरासा दर्द भी होता था, तो बुढ़िया विकल हो जाती थी। बीसों वैद्यों और मंत्रवादियों के घर उसके बुलावा पहुँचते थे। और उनके भले होते थे। रामप्यारी बहुत बुद्धिमती स्त्री थी। इसलिये ऐसी जरा-जरासी बातों में वैद्यों को बुलाने के लिये वह निषेध करती, परन्तु उस बेचारी की सुनाता कौन था। बुढ़िया के आगे किसी की भी दाल नहीं गलने पाती थी। आखिर रामप्यारी ने मन ही मन यह निश्चय कर लिया था कि छोटी-मोटी तकलीफों को किसी पर प्रगट ही नहीं करूंगी।

रामप्यारी एक सुशिक्षित घर की लड़की थी इसलिये सम्पूर्ण गृह-कार्यों में दक्ष होने के सिवाय वह भली प्रकार पढ़ी लिखी भी थी। वह जानती थी कि बालक छोटी अवस्था में जैसे सांचे में ढाला जावेगा, उसका आगामी जीवन उसी प्रकार का होगा। इसलिये बालक हीरा-लाल को वह सदा अपने ही पास रखना चाहती थी और इस बात से बड़ी सावधान रहती थी कि उसके हृदय पर बुरे बालकों के दुर्गुणों की छाया न पड़ने पावे। परन्तु रतनचन्द की भोली माता प्रेमाधिक्य के कारण उसके इस कार्य में बाधक होती थी। प्रायः वह उसे अपनी गोद में लेकर दीवानखाने में जा बैठती थी और मुहल्ला के बुरे भले बालक बालिकाओं को बुलाकर उनके साथ विनोद करती और मोदक बाँटती थी।

इस कौतुक से और क्या हानि हुई सो तो हम नहीं कह सकते, परन्तु एक दिन दूध पिलाने में देरी हो जाने के कारण बालक हीरा-लाल ने रामप्यारी को तोतले अस्पष्ट अक्षरों में अश्लील गाली दी थी, जिसे सुनकर बुढ़िया बड़ी प्रसन्न हुई थी।

हीरालाल जब पाँच वर्ष का हुआ, तब एक दिन रामप्यारी ने गुप्तरूप से शुभमुहूर्त निकलवाकर विद्यारम्भ करा दिया था। खेल के बहाने से वह प्रतिदिन घण्टा आधा घण्टा उसे कुछ न कुछ बतला दिया करती थी, इसके १०-१५ दिन में ही हीरालाल वर्णमाला सीख गया था।

उस समय तो रतनचन्द की माँ के कानों तक यह बात नहीं पहुँची। परन्तु एक दिन किसी खिलाड़ी लड़के के मुँह से यह बात सुनकर बुढ़िया बड़ी अप्रसन्न हुई। उसने रामप्यारी से कहा-बहू! तेरे सिरपर तो कलियुग सवार हो गया है। तुझे यह नहीं मालूम है कि छोटी अवस्था में पढ़ाने से लड़के कमजोर हो जाते हैं। अभी ये उनके खेलने खाने के दिन हैं। अभी से उसके सिर पर यह पढ़ने की चिन्ता का पत्थर रख दिया जावेगा तो इसका शरीर कैसे बढ़ेगा? और हमारा हीरा क्या किसी कंगाल का लड़का है, जो बिना पढ़े भूखों मर जावेगा? उसे किस बात की कमी है! बैठा-बैठा खावेगा और गुमास्तों पर हुक्म किया करेगा। खबरदार! अब यदि मैंने कभी पढ़ाने की बात सुनी, तो तुझसे बोलना छोड़ दूंगी और रोटी नहीं खाऊंगी।

इस पर रामप्यारी ने अपनी शक्तिभर बहुत कुछ समझाया कि मैं इस तरह से पढ़ाती हूँ कि इसे कुछ परिश्रम न पड़े, खेल ही खेल में बतलाती रहती हूँ। परन्तु बुढ़िया ने एक न सुनी। लाचार मन ही मन में दुःखी होकर रामप्यारी ने उस समय पढ़ाना छोड़ दिया और विचार किया कि अस्तु, पढ़ना नहीं, तो न सही। कुछ नैतिक शिक्षा ही इसे देती रहूँगी। परन्तु उसकी यह इच्छा भी पूर्ण नहीं हुई।

थोड़े ही दिनों में उसके एक दूसरा बालक उत्पन्न हुआ और दो तीन दिन जीकर मर गया। साथ ही वह भी बीमार हो गई। रतन-चन्द ने बड़े २ वैद्यों से दवाई कराई परन्तु कुछ भी लाभ न हुआ। खाना पीना सब छूट गया। एक मात्र हड्डियों का पंजर रह गया। रामप्यारी की यह दशा देखकर रतनचन्द को जो कष्ट होता था

उसका वर्णन नहीं हो सकता। उस दुःख का अनुभव वे ही कर सकते हैं, जिन पर कभी ऐसा अवसर आ चुका हो। रतनचन्द से उस घर में जहाँ कि रामप्यारी का पलंग बिछा था खड़ा नहीं रहा जाता। जो और अन्यत्र कहीं जाते थे, तो जी उथल पुथल हुआ जाता था।

एक दिन वृद्धा माता हीरालाल को बाहर बहला रही थी, और दूसरे सेवक लोग अपने-अपने काम में लगे हुए थे कि रतनचन्द को एकान्त में पलंग के पास खड़े हुए देखकर रामप्यारी ने कठिनता के साथ धीरे से कहा "प्राणनाथ! मैं आपके समक्ष प्राणत्याग करूंगी इससे बढ़कर सुख सौभाग्य और मेरा क्या हो सकता है? परन्तु मेरे पीछे न जाने हीरालाल की गति क्या होगी? यह चिन्ता मुझे बहुत सताती है। वह छह सात वर्ष का हो गया तो भी उसके पढ़ने की ओर किसी का ध्यान नहीं है। अब भी यदि वह न पढ़ा, तो और कब पढ़ेगा?

अब मैं बहुत समय तक न जीऊंगी। एक बात मैं बहुत दिन से कहना चाहती हूँ परन्तु कही नहीं जाती। इतना कहते-कहते रामप्यारी के नेत्रों से आँसू के दो बूंद निकल पड़े। रतनचन्द ने उन्हें अपने दुपट्टे से पोंछकर उस भाग्यवती के मुँह पर हाथ फेरा और कठिनाई से हृदय को सम्हालकर कहा–प्रिये कहो, क्या कहती हो?

रामप्यारी ने उस समय रतनचन्द के मुख का एक अपूर्व भाव से निरीक्षण करते हुए कहा–जीवन सर्वस्व कहीं पर इससे मेरे हृदय को छोटा नहीं समझ लेना वह बहुत विस्तृत है। परन्तु संसार की अवस्था का विचार करके कहना पड़ता है कि अब तुम दूसरा विवाह नहीं करना। हीरालाल की कुशल चाहना हो, तो रामप्यारी के नाथ! अब किसी दूसरी के नाथ नहीं बनना।

रामप्यारी से और अधिक न बोला गया, गला भर आया, आँखों से आँसूओं की धारा बह निकली। तब रतनचन्द ने रामप्यारी का सिर अपनी गोद में रख लिया और मुँह पर हाथ फेरते हुए रोते-रोते कहा-प्राणवल्लभे! ऐसा होगा। तुम्हारी सम्मति का पालन करने के लिये मैं सर्वतोभाव से तैयार हूँ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं

समझना। रतनचन्द रामप्यारी को छोड़कर अब किसी को प्यारी कह के संबोधन नहीं करेगा।

यह सुनकर रामप्यारी के क्षीण मुख पर एक प्रकार की आभा सी झलक आई, एक बार पति की ओर लालायित नेत्रों से देखकर उसने कृतज्ञता प्रगट की। उसी समय वृद्ध माता के आ जाने से रतनचन्द पलंग पर से उतर पड़ा और बाहर चला गया।

उसी रात को रामप्यारी की अस्वस्थता अधिक बढ़ी। और प्रातः काल होने के पहले अपने पति और पंचपरमेष्टी का नाम स्मरण करते हुए उसने प्राणोत्सर्ग किया। चारों ओर हाहाकार मच गया। उस समय वृद्धा बेहोश होकर गिर पड़ी। रतनचन्द को घर बाहर अन्धकार ही अन्धकार दिखने लगा।

धीरे-धीरे रामप्यारी को मरे हुए चार वर्ष बीत गये। रतनचन्द बहुत दिन से दुकानादि के कार्यों से उदासीन हो गये थे, वह भी काम करने लगे। मित्र दोस्तों में उठने बैठने लगे, हंसी मजाक करने लगे सारांश कि सांसारिक कार्यों में सब प्रकार से पहले की नाई अस्तव्यस्त रहने लगे, परन्तु रामप्यारी को नहीं भूले। हीरालाल के मुंह को देखते ही उन्हें उसका स्मरण हो आता था।

वृद्धा माता प्रतिदिन समझाती थी, नगर के प्रतिष्ठित लोगों को ला लाकर समझाने को कहती थी, जाति की विवाह योग्य कन्याओं के रूप गुणों की अवसर पाकर स्वयं प्रशंसा करती थी और बराबर की स्त्रियों से कराती थी। परन्तु रतनचन्द दूसरा विवाह करना स्वीकार नहीं करते थे। रामप्यारी के कहे हुए वचन उसके हृदय पर अच्छी तरह से अंकित हो रहे थे। उस समय उन्हें भूल जाना उनकी शक्ति से बाहर था।

हीरालाल अपनी दादी के लाड प्यार में धनवानों के जैसे लड़के हुआ करते हैं, वैसा ही हो गया। रामप्यारी की अंकित की हुई थोड़े बहुत गुणों की छाया जो कुछ उसके हृदय पर थी, वह भी साफ हो गई। खेलकूद और तत्सम्बन्धी पदार्थों के एकत्र करने के सिवाय उसे

नहीं रुचता था। और रतनचन्द को अपनी अन्यमनस्कता तथा प्रपंचों के मारे इतना अवकाश नहीं मिलता था कि हीरालाल की देखरेख रख सके, अथवा उसके विद्याभ्यास में सहायक हो। नगर की एक पाठशाला में नाम लिखाकर ही निश्चिंत हो चुके थे कि हीरालाल पढ़ता है। परन्तु हीरालाल बुरे लड़कों के दुर्गुण सीखने के सिवाय और कुछ नहीं करता था।

पाठशाला के अध्यापक का विद्यार्थियों को प्राय: भय रहा करता है, परन्तु हीरालाल को यह भी नहीं था। क्योंकि उसकी दादी के द्वारा अध्यापक महाशय को बहुत कुछ प्राप्ति हुआ करती थी। दादी हाथ जोड़ के कह दिया करती थी कि पंडितजी! मेरे हीरालाल को मत मारियो। उसे प्यार से पढ़ा दिया कीजियो। सारांश यह कि हीरालाल के पठन-पाठन की व्यवस्था आजकल के धनवानों के लड़कों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी।

खेटपुर में एक धनपाल नाम के सेठ से रतनचन्द की गाढ़ी मित्रता थी। रतनचन्द को अपने हृदय पर भी जितना विश्वास नहीं था, उतना अपने मित्र पर था। धनपाल उमर में कुछ बड़े थे, इसलिये रतनचन्द उन्हें बहुत मानते थे, और उनकी दी हुई सम्मति का बहुत आदर करते थे। बुढ़िया ने अपने सब उपायों को विफल देखकर अन्त में इन्हीं धनपाल से अपनी इच्छा प्रगट करने का मनसूबा किया और एक आदमी भेजकर एक दिन उन्हें बुला भेजा।

धनपाल से वृद्धा ने कहा—बेटा! तुझे इसलिये बुलवाया है कि रतनचन्द को विवाह करने के लिये राजी कर ले। मैंने बहुत उपाय किये, परन्तु वह नहीं मानता है। भला तू ही कह, स्त्री के बिना घर की क्या शोभा है? भला; मेरे किसी बात की कमी है, जो विवाह न करूँ। देख न, नगर में लोगों की चरचा के मारे कान नहीं दिये जाते हैं। मुझसे तो मुँह भी नहीं दिखलाया जाता है। और न अब इस घर में खड़ा रहा जाता है। यदि तेरे कहने से भी यह नहीं मानेगा, तो देख लेना मैं आत्म हत्या कर लूंगी। इसके बाद बुढ़िया रोने

लगी। धनपाल ने उसे जैसे-तैसे समझा बुझाकर उस समय शान्त किया और उसकी इच्छा में सहमत होकर पीछा छुड़ाया।

इसके पश्चात् धनपाल की रतनचन्द से भेट हुई। एकान्त में बहुत समय तक दोनों में शास्त्रार्थ होता रहा। और अन्त में धनपाल के पक्ष की इस प्रकार से विजय हुई। उन्होंने कहा–तुम्हारी अवस्था विवाह के योग्य अर्थात् लोक और शास्त्र दोनों की मर्यादा के भीतर है। वृद्धा माता का अतिशय आग्रह है सिवाय इसके तुम्हारे यहाँ कोई दूसरी घर द्वार को सम्हालने वाली भी तो कोई नहीं है।

मां के जीवन का ठिकाना ही क्या है ? न जाने कब कूच करदें। फिर भला तुम ही कहो; हीरालाल का कौन होगा ? और तुम क्या समझते हो कि जैसी तुम्हारी परिणति आज है, वैसी सदा बनी रहेगी नहीं, ऐसा स्वप्न में भी ख्याल न करो। क्योंकि संसारबद्ध पुरुष के समय-समय पर भाव बदला करते हैं। बाह्य कारणों के मिलने से कब कैसे परिणाम होंगे, इसका निश्चय नहीं है। गृहवास में रहकर विषयवासनाओं को दबाये रखना सबका कार्य नहीं।

नीति में कहा है—"बलवानिन्द्रियगामो विद्वांसमपि कर्षति" अर्थात् बलवान् इन्द्रियों के समूह विद्वानों को भी आकर्षित करते हैं, इसलिये विचार करो कि अभी तुम इस प्रकार से बैरागी बने रहे और पीछे अवस्था पक जाने पर किसी कारण से तुम्हें विवाह करने के लिये बाध्य होना पड़े, तो संसार में कितना परिहास होगा ? अतएव अच्छा हो, यदि तुम इस सोहती अवस्था में ही संसार के एक ऋण से मुक्त हो जाओ और भी जहां तक मैं जानता हूं, यदि यदि योग्य अवस्था में एक स्त्री के मृत्यु हो जाने पर दूसरा विवाह करना हो, तो कुछ अनुचित कर्म नहीं है।

गृहस्थ धर्म का निर्वाह बिना स्त्री के नहीं हो सकता। जिस घर में स्त्री नहीं है, उस घर में शांति नहीं है, सुख नहीं है, विश्राम नहीं है और सच पूछो तो उस घर में लक्ष्मी का निवास ही नहीं हो सकता है। जैसा कि लोग समझते हैं, यह स्त्रीरत्न विषयवासना की निवृत्ति का उपकरणमात्र नहीं है। किन्तु परम्परा मोक्षस्वरूप गृहस्थमार्ग का

पथदर्शक दीपक है। संसार में रहकर जो इस रत्न की अवहेलना करते हैं, उन्हें प्राय: सुखशान्ति मिलती ही नहीं है।

स्त्री के समान सुदक्ष मंत्री, स्त्री के समान सच्चा स्वाभिभक्त सेवक, स्त्री के समान सुस्वादु भोजन कराने वाला पाचक, स्त्री के समान परिश्रमनिवारक दिव्यमंत्र, स्त्रीकंठ के समान जगन्मनोहर वाद्य, स्त्री के प्रसन्नमुख के समान चिन्ताखेदनाशक नन्दनवन और स्त्री के रमणीय समागम के समान स्वर्ग, संसार में दूसरा नहीं है ! नहीं है!! इसलिये यदि तुम स्त्री का परिग्रह नहीं करते हो तो इस ससार को ही क्यों नहीं छोड़ देते ? और यदि संसार को छोड़ने को तुम्हारी शक्ति नहीं है तो भाई मेरा कहना मान लो और अपनी माता की इच्छा पूर्ण करने में अब विलम्ब मत करो।

रतनचन्द इसका कुछ उत्तर देना ही चाहते थे कि इतने में एक आदमी घबड़ाया हुआ आया और बोला—सेठजी नेमिचन्द सेठ ने आपको इसी समय बुलाया है। उनकी अवस्था बहुत खराब हो रही है। यह सुनते ही रतनचन्द और धनपाल दोनों उस आदमी से कुछ पूछ-ताछ करते हुए नेमिचन्द सेठ के घर जा पहुँचे।

————

पंद्रहवाँ पर्व

नेमिचन्द एक साधारण श्रेणी के वणिक् है। वे बहुत धनवान् तो नहीं है, परन्तु सत्यनिष्ठा के कारण उनकी प्रतिष्ठा वहाँ के बड़े-बड़े धनवानों से किसी प्रकार कम नहीं है। इस समय वे मृत्युशय्या पर पड़े हुए हैं। उनकी एक मात्र कन्या रामकुमारी उनके सिराने के पास उदासमुख बैठी है। उसकी अवस्था इस समय अनुमान १३ वर्ष के होगी। यों तो वह वैसे ही सुरूपवती थीं, परन्तु इस समय यौवन के प्रारम्भ की आभा से उसका शरीर बहुत ही मनोहर हो गया है। जो एकबार उसे देख लेता है वह फिर भी उसे देखना चाहता है। उसके

प्रत्येक अंग की शोभा का वर्णन करके हम अपने पाठकों को चलचित्त नहीं बनाना चाहते और इतना ही कहकर हम आगे चलते हैं कि वह सुन्दर थी। जिस समय रामकुमारी तीन चार वर्ष की थी, उसी समय उसकी माता ने उससे विदा मांग ली थी। पिता ने बड़ी कठिनाई से उसका पालन किया है। दूसरी कोई सन्तान न होने के कारण नेमिचन्द ने उसे ही अपने आँखों की तारा बना रक्खी थी।

नेमिचन्द की उमर इस समय ६० वर्ष के अनुमान हैं। आज वे अपनी दुलारी रामकुमारी को अकेली छोड़कर जाने की तैयारी कर रहे हैं। इस समय उन्हें अपने मरने का उतना दुःख नहीं है जितना रामकुमारी को कुमारी छोड़कर जाने का है। कई वर्ष से वे उसके विवाह का विचार करते थे, परन्तु जिस समय उन्हें इस बात का स्मरण होता था कि हमारी दुलारी बेटी विवाह होते ही हमसे अलग हो जावेगी उस समय उनके सब विचार आंसुओं के द्वारा बह जाते थे।

वे नहीं जानते थे कि मेरा जीवन कितना बड़ा है ?इसी भूल के कारण आज नेमिचन्द का हृदय उत्तप्त उद्विग्न हो रहा है, शरीर की शक्ति अधिकाधिक क्षीण होती जाती है। न जाने कितने स्वास बाकी रह गये हैं, यह समझ करके और अधिक विचारपूर्वक निश्चय करने का अवसर न देखकर उन्होंने रतनचन्द को बुलाया है। रतनचन्द के चरित्रों को वे बालकपन से जानते है और इस कारण उस पर प्रीति भी रखते हैं।

नेमिचन्द के घर रतनचन्द प्रायः आया जाया करते थे और जरूरत होने पर रामकुमारी से बातचीत भी करते थे। रामकुमारी भी उनके साथ वार्तालाप करने में कुछ संकोच नहीं करती थी। परन्तु आज न जाने क्यों रतनचन्द के आते ही वह वहाँ से भाग गई। बहुत देर से अपने पिता की चिन्ताव्यग्रता पर विचार करते-करते शायद उसने इसी तत्त्व का शोध किया था।

रतनचन्द और धनपाल ने आते ही शरीर-कुशलता पूछी। मुमूर्षु

नेमिचन्द ने एकबार रतनचन्द को सिर से पैर तक देखा और थोड़ी देर तक नेत्र बन्द करके कुछ विचार किया । पश्चात् बहुत धीमी आवाज से कहा, रतनचन्द ! मेरी यह अन्तिम दशा है । अच्छा हुआ, जो तुम आ गये । यह कहकर नेमिचंद ने सिरहाने के पास रामकुमारी को न देख कर पूछा, दुलारी कहाँ चली गई ?

रामकुमारी पास ही दीवाल की ओट में खड़ी थी । उसने पिता की आवाज सुन ली, परन्तु आई नहीं । तब रतनचन्द स्वयं उसका नामोच्चारण करते हुए बुला लाने को उठे, बड़ी मुश्किल हुई । रामकुमारी ने देखा, नही जाऊंगी, तो अब हाथ पकड़ा जावेगा । इसलिये तत्काल ही लज्जित होती हुई-नीची दृष्टि किये हुए पिता के समीप आ खड़ी हुई । एक ओर उसके आगे पिता के मृत्यु के पश्चात् का वियोग-विपत्ति का दृश्य नाचता था और दूसरी ओर एक नवीन विचार की उथल पुथल उसके हृदय को अस्थिर बना रही थी । पिता की मुमूर्षु मूर्ति को देखकर उस समय उसके नेत्रों में आंसू भर आये। वह गद्गद्—कंठ से बोली-पिताजी क्या आज्ञा है ?

रतनचन्द और धनपाल पलंग के पास ही पड़ी हुई कुर्सियों पर बैठे थे । उनमें से रतनचन्द की कुर्सी सिरहाने की ओर थी और धनपाल की कुर्सी उसी से लगी हुई, परन्तु दाहिनी ओर थी । नेमिचन्द का मस्तक एक तकिये के सहारे कुछ ऊँचा हो रहा था । यद्यपि वे चाहते थे, मैं थोड़े समय के लिये टिक के बैठ जाऊँ, परन्तु अशक्तता बहुत बढ़ गई थी । मस्तक ही बड़ी कठिनता से तकिये के सहारे रह सकता था ।

अपनी प्यारी बेटी के मुँह से "क्या आज्ञा है ?" यह प्रश्न सुनकर उन्होंने कहा-जरा मुझे अपना बांया हाथ तो बतला । उस समय रामकुमारी का शरीर कंटकित हो गया । न जाने क्यों डरते-डरते उसने हाथ आगे को बढ़ाया । उसी समय नेमिचन्द ने कहा—रतनचन्द ! तुम मुझे सदा से मानते आये हो । क्या आज भी मेरी बात

मानकर तुम मुझे सुखी कर सकते हो ? "कहिये, क्या बात है, मैं उसे मानने के लिये सब प्रकार से तैयार हूँ।"

इस प्रकार कहते हुए रतनचन्द कुर्सी से उठकर बात सुनने की उत्कंठा से आगे की ओर झुके। उसी समय नेमीचन्द ने रामकुमारी का हाथ पकड़ के रतनचन्द के हाथ में दिया और कहा—"बस इस कन्या का पाणिग्रहण करो, यही मेरी अन्तिम वासना है। मुझे इसीसे सीमाधिक सुख प्राप्त होगा। मैं अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी तुम्हें ही बनाता हूँ।"

रतनचन्द अवाक्। एक क्षणभर पहले जिसका स्वप्न में भी ख्याल नहीं था, वह बात कार्य में परिणत होने के सम्मुख हो गई। जिसका कभी विचार ही नहीं किया, उसका क्या उत्तर दें ? और ऐसे महत्त्व के विषय का जिससे जीवन के सुख-दुःखों का सारा फैसला होता है। क्या इतनी जल्दी विचार करके उत्तर दिया जाना संभव है ! बड़ा ही कठिन प्रश्न था। मृत्युशय्या पर पड़े हुए वृद्ध पुरुष की आज्ञा का उल्लंघन करूं, अथवा स्वर्गीय रामप्यारी से हारे हुए वचनों की अवहेलना करूं। लज्जावनता सुन्दरी का सुकोमल कर पल्लव छोड़ दूं, अथवा साध्वी का दिया हुआ व्रत तोड़ दूं ?

इस विकट द्वन्दयुद्ध में पड़कर रतनचन्द चकित स्तम्भित हो रहा। अपना कर्तव्य क्या है, यह विचारने की शक्ति ही उसमें न रही। मूर्तिमन्त पाषाण के समान वह खड़ा का खड़ा रह गया। उसके दाहिने हाथ में रामकुमारी का दाहिना हाथ ज्यों का त्यों थमा हुआ था।

धनपाल इस अपूर्व दृश्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। वह एवमस्तु, एवमस्तु कहकर उठ खड़ा हुआ। और रतनचन्द की समाधि भंग करके उसने कहा—वाहजी ! तुमने भी खूब ध्यान लगाया। अब उस बेचारी का हाथ छोड़ोगे भी, या यों ही खड़े रहोगे ? लज्जा आती हो तो उत्तर देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि एक तो इसका कुछ उत्तर ही नहीं है; और जो है वह इतनी देर तक

मौन धारण करके प्रगट भी तो कर चुके हो ! क्योंकि "मौनं सम्मति लक्षणं" कहा है ।

इसके पश्चात् धनपाल ने अपना लक्ष्य बदल कर नेमिचन्द से कहा—आपने बहुत उतम विचार किया । और यही आपका कर्तव्य था । रतनचन्दजी की ओर से मैं इस सम्बन्ध को स्वीकार करता हूँ । इनकी माता भी इस सम्बन्ध को बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करेंगी । आप निश्चिन्त होकर शान्तिलाभ कीजिये ।

नेमिचन्द ने यह सुनकर एकबार रतनचन्द और रामकुमारी की ओर देखकर नेत्र बन्द कर लिये और फिर नहीं खोले ।

नेमिचन्द की अन्तःक्रिया की गई । रामकुमारी ने कई दिन तक पितृवियोग का शोक मनाया । और कुछ दिन पीछे रतनचन्द द्वितीय विवाह के बन्धन से जकड़ दिये गये । उनकी माता नववधू को पाकर आनन्द में मग्न हो गई । हीरालाल को उसके साथ में खिलाड़ी लड़के "मैया नई पुराना बाप, हीरा बेटा सूता कात" आदि तुकबन्दियां बना बनाकर चिढ़ाने लगे ।

जिस रात को रतनचन्द का रामकुंवरि के साथ प्रथम समागम हुआ उसी रात के पिछले पहर में उन्होने स्वप्न में देखा कि एक दिव्य विमान धीरे-धीरे आकाश से नीचे उतरा हैं । उसमें बैठी हुई एक त्रैलोक्यमोहनी सुन्दरी परिहासपूर्वक कहती हैं, "रामप्यारा के नाथ ! अन्त में तुम प्रतिज्ञा का पालन न कर सके । और एक नवमुग्धा के नाथ बन गये । कहते थे—संसार में अब किसी से प्यारी नहीं कहूंगा । परन्तु वह भी भूल गये । सच तो कहो, आज तुमने कितनी बार "प्यारी ! प्राणप्यारी" मन्त्र का जाप्य किया है । अस्तु क्या चिन्ता है ।

कुछ दिन इस मन्त्र का फल भी अनुभव करके देख लो कि कितनी शान्ति मिलती है । अन्त में तो तुम मेरे ही होओगे । एक दिन इसी दिव्यविमान में मैं तुम्हारे साथ विहार करूंगी । पति सेवा का फल मुझे अवश्य मिलेगा । कृत्रिम प्रेम थोड़े ही दिन टिकता है,

परन्तु अकृत्रिम अगाध प्रेम अन्त तक एक रूप में स्थिर रहता है।" इतना कहकर वह अप्सरा वहाँ से अन्तर्ध्यान हो गई। रतनचन्द को पीछे-पीछे भान हुआ कि वह उनकी प्रतिप्राणा साध्वी रामप्यारी थी।

रतनचन्द का विवाह समाप्त होते ही बुढ़िया माता ने हीरालाल के विवाह का सूत्रपात किया। और आखिर दूसरे वर्ष वह भी चतुर्भुज बना दिया गया। उस समय उसकी अवस्था १२ वर्ष की थी। अब यह कहने की जरूरत नहीं रही कि वह जो कुछ थोथा बहुत विद्याभ्यास करता था उसकी भी इतिश्री यहीं हो गई। इधर पौत्रवधू का मुख देखकर कुछ दिन में बुढ़िया दादी चल बसी। रतनचन्द अपनी जननी के अकृत्रिम स्नेह का स्मरण करके बहुत दुखी हुए।

बस, रतनचन्द और हीरालाल की पूर्वकथा का सार यही है। यहां इसे प्रगट करना हमने इसलिये उचित समझा कि पाठकगण इस बात का विचार कर सकें कि मनुष्य का चरित्रगठन कब और कैसे होता है, तथा उसका पारिपाक कब और किस रूप में होता है। इस परिचय से और भी अनेक बातों की शिक्षा मिलने की संभावना है।

सोलहवाँ पर्व

तीसरे दिन मुनि परिषद् के एकत्र होने पर रतनचन्द ने विनय पूर्वक प्रश्न किया कि महाराज ! आज कृपा करके यह बतलाइये कि मोक्षमार्ग के पूर्ण होने का क्रम क्या है ? यह सुनकर आचार्य भगवान ने कहा रतनचन्द ! आज का तुम्हारा प्रश्न बहुत ही अच्छा हुआ। इसके उत्तर को सुनकर तुम्हें बहुत समाधान तथा संतोष होगा। जैन मार्ग का सच्चा गौरव इसी विषय के सुनने से प्रगट होगा।

कारण के दो भेद हैं-एक समथ कारण और दूसरा असमर्थ कारण। सहकारी समस्त सामग्री के सद्भावपूर्वक सम्पूर्ण प्रतिबंधकों के अभाव को समर्थ कारण कहते हैं। कार्य की सिद्धि असमर्थ कारण से नहीं होती किन्तु समर्थ कारण के सद्भाव होते ही हो जाती है। मोक्ष का समर्थ कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की एकत्रता तथा पूर्णता है। उसके होते ही तत्काल मोक्ष होता है। परन्तु इन तीनों की एकत्रता पूर्णता युगपत् नहीं होती, क्रमपूर्वक होती है। तुम्हारा प्रश्न इसी क्रम के विषय में है। अच्छा, तो मैं अब इसके उत्तर का प्रारम्भ करता हूँ।

अनादिकाल से चतुर्गति में परिभ्रमण करते हुए जीवों में से जिस जीव का अर्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाण काल शेष रहता है, वह जीव सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का पात्र होता है। क्षयोपशम, देशना, विशुद्धि, प्रायोगिक तथा करण इन पांच लब्धियों का संविधान होते ही सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व (दर्शनमोह) तथा अनतानुबंधी चार कषाय इन पांच प्रकृतियों का उपशम होता है। उस समय आत्मा में जो सम्यग्दर्शन परिणाम प्रगट होता है, वह प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के लाभ से आत्मा में जो विशुद्ध परिणाम होते हैं, उनसे मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड हो जाते हैं। इससे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म की एक मिथ्यात्व प्रकृति ही थी।

उक्त तीन खण्डों में से एक खण्ड को सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं विशुद्धि परिणामों के बल से इन परमाणुओं में अनुभाग शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वे सम्यक्त्व का निर्मूल घात तो नहीं कर सकते परन्तु शङ्का आदिक मल उत्पन्न करते हैं। दूसरे खण्ड का नाम मिश्र प्रकृति है इसके परमाणुओं का अनुभाग इस प्रकार क्षीणाक्षीण होजाता है कि इसके उदय से आत्मा में मिश्रित दही गुड़ के स्वर की तरह सम्यक्त्व तथा मिथ्यास्वरूप जुदे जुदे परिणाम नहीं होते, किन्तु मिश्रित परिणाम होते हैं। तीसरा खण्ड मिथ्यात्व प्रकृति स्वरूप ही है। अब इस जीव के सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्षभूत दर्शनमोह की प्रकृति तीन तथा चरित्र मोह की अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय इस प्रकार सात प्रकृति हुई। इन सात प्रकृतियों में से यदि मिथ्यात्व प्रकृतियों का उदय हो जाय तो यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यादृष्टि संज्ञक प्रथमगुणस्थानवर्ती हो जाता है। यदि मिथ्यात्व का उदय न हो और अनन्तानुबन्धियों में से किसी एक का उदय हो जाय, तो सम्यक्त्व का घात हो जाता है और जीव सासादन सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

जिस जीव के मिश्रित प्रकृति का उदय हो जाता है वह मिश्र परिणामों का अनुभव करने से तीसरा मिश्र गुण स्थान वर्ती कहलाता है। और जिस जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होता है, उसके दर्शनमोह का क्षयोपशम होने से क्षयोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

यही वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के केवली अथवा श्रुतकेवली के बाद मूल में अनन्तानुबन्धि का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि बारह प्रकृति रूप परिणमावना) कर दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशामिक तथा क्षायिक ये तीनों ही सम्यक्त्व सहित जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं। चौथे गुणस्थान के ऊपर सम्यग्दृष्टि जीव ही होते हैं। तथा सम्यग्दर्शन के सद्भाव से ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि प्रथमोपशम तथा क्षायोपशमिव सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान पर्यन्त ही होते हैं। और क्षायिक

सम्यक्त्व की उत्पत्ति चौथे पाँचवें छट्ठे सातवें इनमें से किसी एक में होती है।

सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के पश्चात् कोई जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से हिंसादिक पांच पापों का सर्वथा त्याग करने में असमर्थ होकर उनका एक देश त्याग करके श्रावक के व्रतों का धारण करता हुआ देशविरत संज्ञक पंचम गुणस्थानवर्ती होता है। तथा जिस जीव के प्रत्याख्यान वरण कषाय का उपशम हो जाता है और संज्वलन और नो कषाय रूप(*) चारित्र मोहनीय कर्म का मन्द उदय होता है वह चौथे अथवा पांचवें गुणस्थान को त्यागकर हिंसादिक पंच पापों को सर्वथा छोड़ अप्रमत्त सज्ञक सातवें गुणस्थान को धारण करता है। पश्चात् संज्वलन तथा नो कषाय के तीव्र उदय से विकथादिक प्रभावों को प्राप्त होकर प्रमत्त संज्ञक छठे स्थान में पदार्पण करता है।

छठे और सातवें इन दोनों ही गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट-काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। और इन दोनों ही गुणस्थानों को यह जीव अनेक बार छोड़ता तथा ग्रहण करता है। जब तक सातवें गुणस्थान में से यह जीव छठे गुणस्थान को जाया करता है तब तक उस सातवें गुणस्थान को स्वस्थान अप्रमत्त कहते है ओर जब यह जीव श्रेणी चढ़ने को सन्मुख होता है, तब इस गुणस्थान को सांतिशय अप्रमत्त कहते हैं। श्रेणी शब्द का अर्थ नसेनी है यहाँ उपमार्थ में श्रेणी शब्द का ग्रहण है। अर्थात् मोक्षरूपी महल के शिखर पर चढ़ने के लिये जो नसेनी का

(*) चारित्र मोहनीय कर्म के २५ भेद हैं। जिनमें से अनंतानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व के घातक हैं। अप्रत्यख्यानावरण क्रोधादिक ४ देश चारित्र के घातक है। प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक ४ सकल चारित्र के घातक हैं। संज्वलन क्रोधादिक ४ तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुरुष नपुंसक वेद ६ सब मिलकर १३ यथाख्यात चारित्र के घातक हैं।

काम देवे, उसे श्रेणी कहते हैं। अष्ट कर्मो का सरदार मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म का नाश किये बिना शेष सात कर्मो का नाश नहीं होता।

इसलिये सबसे पहले मोहनीय कर्म नाश किया जाता है। इस मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं। जिनमें से दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक चार इस प्रकार ७ प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात करती है। शेष चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियाँ चारित्र की घातक हैं।

प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि श्रेणी चढ़ने का अधिकारी नही है और वेदक सम्यग्दृष्टि श्रेणी चढ़ने से पहले अनन्तानुबन्धि चतुष्क का विसंयोजन करके दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अथवा उन तीनों का उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होता है।

श्रेणी के दो भेद है—एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम किया जाय, उसको उपशम श्रेणी कहते हैं और जिसमें उक्त २१ प्रकृतियों का क्षय किया जाय, उसको क्षपक श्रेणी कहते हैं। श्रेणी का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होता है। सातिशय अप्रमत्त में श्रेणी का सम्मुख अवस्था है। दसवें गुणस्थान के अन्त में उपशम श्रेणी वाला २१ प्रकृतियों का उपशम कर चुकता है, और क्षपक श्रेणी वाला क्षय कर चुकता है।

इसके पश्चात् चारित्र मोहनीय कर्म की उपशांत अवस्था को भोगने वाले जीव को उपशांत कषाय संज्ञक ग्यारहवे गुणस्थान का धारक कहते हैं। और क्षय अवस्था को भोगने वाले जीव को क्षीणमोह संज्ञक बारहवें गुणस्थान का धारक कहते हैं। इन दोनों गुणस्थान वाले जीवों के उदय की अपेक्षा विशुद्धता में कुछ भी अन्तर नहीं है।

केवल इतना विशेष है कि ग्यारहवे गुणस्थान वाला जीव अपने स्थान से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों में आता है और बारहवें गुण स्थान वाला अपने स्थान से नीचे न गिरकर ऊँचा चढ़ता हुआ

नियम से मोक्ष को जाता है। दोनों ही गुणस्थान वाले समस्त कषायों के उदय के अभाव से अथवा क्षय की अपेक्षा से वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणी चढ़ सकता है, किन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि केवल उपशम श्रेणी ही चढ़ सकता है क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता। क्षपकश्रेणी चढ़ने का अधिकार केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टि को ही है।

चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों को उपशमावने तथा क्षपावने के लिये यह जीव अधःप्रवृत्त करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण संज्ञक तीन करणों को करता है। उनमें से अधप्रवृत्तकरण सातवें, अपूर्वकरण आठवें और अनिवृ करण नवें गुणस्थान में होता है। करण नाम परिणामों का है। इन परिणामों के प्रति समय अनन्त-गुणी विशुद्धता होती जाती है, जिससे कर्मों का उपशम तथा क्षय और स्थिति खंडन तथा अनुभाग खण्डन होते हैं। इन तीनों करणों का काल यद्यपि सामान्यालाप से अन्तर्मुहूर्त मात्र है, तथापि अधःकरण के काल के संख्यातवें भाग अपूर्वकरण का काल है। अपूर्व करण काल के संख्यातवें भाग अनिवृत्तकरण का काल है। अधकरण के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

अपूर्वकरण के परिणाम अधःकरण के परिणामों से असंख्यात लोकगुणित हैं और अनिवृत्तकरण के काल के जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं। इन सबका खुलासा अङ्क संदृष्टि द्वारा कहते हैं:-

कल्पना करो कि अध करण के काल के समयों का प्रमाण १६ अपूर्वकरण के काल के समयों का प्रमाण ८ और अनिवृत्तकरण के काल के समयों का प्रमाण ४ है। अधःकरण के परिणामों की संख्या ३०७२, अपूर्वकरण के परिणामों की संख्या ४०९६ और अनिवृत्त-करण के परिणामों की संख्या ४ है। एक समय में एक जीव के एक परिणाम होता है, इसलिये एक जीव अधःकरण के १६ परिणामों को ही धारण कर सकता है।

अधःकरण के परिणाम जो १६ से अधिक कहे हैं वे नाना जीवों

की अपेक्षा से कहे है। वहाँ इतना विशेष है कि अध:करण के १६ समयों में से प्रथम समय में यदि कोई भी जीव अध:करण मांडेगा तो उसके अध:करण के समस्त परिणामों में से पहले १६२ परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा। अर्थात् तीन काल में चाहे जब चाहे जो जब कभी अध:करण मांडेगा, तो उसके पहले समय में नम्बर १ से लगाकर नं० १६२ तक के परिणामों में से उसकी योग्यता अनुसार कोई एक परिणाम होगा।

इस ही प्रकार किसी जीव के उसके अध:करण मांडने के दूसरे समय में नं० ४० से लगाकर नं० २०५ तक १६६ परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा। इस ही प्रकार आगे के समयों में भी मेरे हाथ में जो यह यन्त्र है देखो पृष्ठ १९८ इसके अनुसार जान लेना चाहिये कि अध:करण के अपुनरुक्त परिणाम केवल ६१२ है और समस्त समयो में सभव पुनरुक्त और अपुनरुक्त परिणामों का जोड़ ३०७२ हैं।

इस अध.करण के परिणाम चय (समानवृद्धि) वर्द्धित है। अर्थात् पहले समय के परिणाम से द्वितीय समय के परिणाम जितने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयों के परिणामों से तृतीयादिक समयों के परिणाम अधिक हैं।

इस दृष्टांत में चयका प्रमाण ४ है स्थान का प्रमाण १६ और सर्व धन का प्रमाण ३०७२ है। प्रथम स्थान में वृद्धि का अभाव है, इसलिये अन्तिम स्थान में एक घाटि पद (स्थान) प्रमाण चयवर्धित हैं। एक घाटि पद के आधे को चय और पद से गुणा करनेसे $\frac{१५ \times ४ \times १६}{२}$ ४८० चय धन का प्रमाण होता है।

भावार्थ—प्रथम समय के समान समस्त समयों में परिणामों को भिन्न समझ कर वधित प्रमाण के जोड़ को चयधन वा उत्तरधन कहते हैं। सर्व धन में से चयधन को घटाकर शेष में पद का भाग देने से प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण $\frac{३०७२ - ४८०}{१६}$ = १६२ होता है। इसमें क्रम से एक-एक चय जोड़ने से द्वितीयादिक

समयों के परिणाम पुंज का प्रमाण होता है। एक घाटिपद प्रमाण चय मिलने से अन्त समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण १६२+१५×४=२२२ होता है।

एक समय में अनेक परिणामों की संभावना है इसलिये एक समय में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं। अतएव एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता है। एक समय में अनेक जीव एक ही परिणाम को ग्रहण कर सकते हैं, इसलिये एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में सदृशता है।

भिन्न समयों में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं, इसलिये भिन्न समयों में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता है। जो परिणाम किसी एक जीव के प्रथम समय में हो सकता है, वही किसी जीव के दूसरे समय में, किसी तीसरे जीव के तीसरे समय में और किसी चौथे जीव के चौथे समय में हो सकता है। जैसे कि १६२ नम्बर के परिणाम की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ समय में सम्भावना है।

इतना कहकर मुनिराज ने एक पत्र पर लिखा हुआ यंत्र सबको दिखलाया—देखो पृष्ठ २१०

इन सब बातों को ध्यान में रखकर पूर्वाचार्यों ने अधःप्रवृत्तकरण का लक्षण इस प्रकार कहा है :—

जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिम भावेहि सरिसगा होंति।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तेति णिद्दिट्ठं॥

अर्थात्—क्योंकि इस करण में उपरितन और अधस्तन (ऊपर और नीचे के) समय सम्बन्धी परिणामों में सदृशता होती है, इसलिये इस करण का नाम अधःप्रवृत्तकरण कहा है। इस अधःकरण में रचना का अभिप्राय ऐसा है कि ऊपर और नीचे के समय सम्बन्धी परिणामों में जितने समय तक सदृशता की संभावना है, उतने ही उतने खंड समस्त समय सम्बन्धी परिणामों के किये गये हैं। और उनमें से प्रत्येक खंड में परिणामों की संख्या इतनी इतनी है कि जितने-जितने परिणाम क्रम से अनन्तर अनन्तर समयों में सदृश हैं।

परिणामों की संख्या और नम्बर	अनुकृष्टि रचना			
२२२	५४	५५	५६	५७
नं० ६९१—९१२	६९१-७४४	७४५-७९९	८००-८५५	८५६-९१२
२१८	५३	५४	५५	५६
नं० ६३८—८५ ५	६३८-६९०	६९१-७४४	७४५-७९९	८००-८५५
२१४	५२	५३	५४	५५
५८६—७ ९९	५८६-६३७	६३८-६९०	६९१-७४४	७४५-७९९
२१०	५१	५२	५३	५४
५३५—७४४	५३५-५८५	५८६-६३७	६३८-६९०	६९१-७४४
२०६	५०	५१	५२	५३
४८५—६९०	४८५-५३४	५३५-५८५	५८५-६३७	६३८-६९०
२०२	४९	५०	५१	५२
४३६—६३०	४३६-४८४	४८५-५३४	५३५-५८५	५८६-६३७
१९८	४८	४९	५०	५१
३८८—५८५	३८८-४३५	४३६-४८४	४८५-५३४	५३५-५८५
१९४	४७	४८	४९	५०
३४१—५३४	३४१-३८७	३८८-४३५	४३६-४८४	४८५-५३४
१९०	४६	४७	४८	४९
२९५—४८४	२९५-३४०	३४१-३८७	३८८-४३५	४३६-४८४
१८६	४५	४६	४७	४८
२५०—४३५	२५०-२९४	२९५-३४०	३४१-३८७	३८८-४३५
१८२	४४	४५	४६	४७
२०६—३८७	२०६-२४९	२५०-२९४	२९५-३४०	३४१-३८७
१७८	४३	४४	४५	४६
१६३—३४०	१६३-२०५	२०६-२४९	२५०-२९४	२९५-३४०
१७४	४२	४३	४४	४५
१२१—२९४	१२१-१६२	१६३-२०५	२०६-२४९	३५०-२९४
१७०	४१	४२	४३	४४
८०—२४९	८०-१२०	१२१-१६२	१६३-२०५	२०६-२४९
१६६	४०	४१	४२	४३
नं० ४०—२०५	४०-७९	८०-१२०	१२१-१६२	१६३-२०५
१६२	३९	४०	४१	४२
नं० १—१६२	८१-३८	४०-७९	८०-१२०	१२१-१६२

भावार्थ—जैसे प्रथम समय सम्बन्धी परिणामपुंज १६२ के ३६, ४०,४१ और ४२ ये चार खण्ड इस क्रम से किये गये हैं कि नम्बर १३६ तक ३६ ऐसे परिणाम हैं जो ऊपर किसी भी समय में नहीं पाए जाते, इतने ही परिणामपुंज का नाम प्रथम खण्ड है। दूसरे खण्ड में नम्बर ४०–७६ तक ४० परिणाम ऐसे हैं, जो प्रथम और द्वितीय दोनों समयों में पाये जाते हैं। तीसरे खण्ड में नवम्बर ८०–१२० तक ४१ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय इन तीनों समयों में पाये जाते हैं, इसी प्रकार अन्य समयों में भी जानना। अधःकरण के ये समस्त परिणाम ऊपर पूर्व पूर्व परिणाम से उतर २ परिणाम अनंत अनन्त गुणी विशुद्धता लिये हुए हैं।

जिस प्रकार अधःकरण में ऊपर और नीचे के समय सम्बन्धी परिणामों में सदृशता पाई जाती है, उसी प्रकार अपूर्वकरण के परिणामों में सदृशता नहीं पाई जाती। किन्तु प्रति समय अपूर्व अपूर्व ही परिणाम होते हैं इस ही लिये इस करण का नाम अपूर्वकरण है। अर्थात् ऐसे परिणाम पहले संसार अवस्था में कदापि नहीं हुए थे। अंकसंदृष्टि से अपूर्व करण की रचना इस प्रकार है—

नम्बर समय	परिणामों की संख्या	परिणामों के नम्बर
८	५६८	३५२६–४०६६
७	५५२	२६७७–३५२८
६	५३६	२४४१–२९७६
५	५२०	१९२१–२४४०
४	५०४	१४१७–१९२०
३	४८८	९२९–१४१६

२	४७२	४५७–६२८
१	४५६	१–४५६

सर्वथा जोड़—४०९६ होता है।

इस यंत्र में सर्वधन ४०९६ चय का प्रमाण १६ स्थान का प्रमाण ८ हैं। चय घन का प्रमाण $\frac{७ \times १६ \times ८}{२}$ = ४४८। प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का $\frac{४०९६-४४८}{८}$ = ४५६ हैं। एक-एक चय जोड़ने से द्वितीयादिक समय सम्बन्धी परिणामपुंज का प्रमाण होता है। एक घटि पद प्रमाण चय जोड़ने से अन्त समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण ४५६ + ७ × १६ = ५६८ होता है। इस यन्त्र से सर्वथा स्पष्ट है कि एक समय में अनेक परिणामों की सम्भावना होने से अनेक जीव अनेक तथा एक परिणाम को ग्रहण कर सकते हैं। इसलिये एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से सदृशता तथा विसदृशता दोनों हो सकती है। किन्तु जो परिणाम निम्न समय में सम्भव है, वे परिणाम ऊपर के समय में कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये निम्न समयों में नाना जीवों की अपेक्षा विसदृशता ही है, सदृशता नहीं है।

जिस प्रकार नाना जीवों के एक समय में संस्थानादिक की अपेक्षा से भेद हैं, उसी प्रकार एक समय में नाना जीवों के परिणामों में जहाँ भेद नहीं हो, उसे अनिवृत्तकरण कहते हैं। उसकी अंकसदृष्टि से रचना इस प्रकार है :—

नम्बर। समय।	परिणाम संख्या।	परिणाम नम्बर
४	१	४
३	१	३
२	१	२
१	१	१

भावार्थ—इसके अनिवृत्तकरण के काल के ४ समय हैं। और चार ही इसके समस्त परिणामों का प्रमाण हैं इसलिये एक समय में एक ही

परिणाम है । अतएव एक समय में अनेक जीवों का परिणाम सदृश ही होते हैं। विसदृश नहीं होते । तथा भिन्न समयों में विसदृश होते हैं, सदृश नहीं होते । जिस प्रकार यह स्वरूप दृष्टान्त द्वारा कहा है, उसी ही प्रकार यथार्थ में लगा लेना चाहिए। दृष्टान्त को ही यथार्थ न समझ लेना चाहिये। इस प्रकार नववें गुणस्थान का स्वरूप कहकर अब आगे दसवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

अनेक प्रकार अनुभागशक्ति को धारण करने वाली कर्मवर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं। नववें गुणस्थान से पहले संसार अवस्था में जो स्पर्द्धक पाये जाते हैं, उनको पूर्व स्पर्द्धक कहते हैं। अनिवृत्त-करण के परिणामों से जिनका अनुभाग क्षीण हो गया है, उनको अपूर्व स्पर्द्धक कहते हैं।

इस ही प्रकार अनिवृत्तकरण के परिणामों से जिनका अनुभाग अपूर्वस्पर्द्धक से भी क्षीणतर हो गया है, उसको वादरकृष्टि कहते हैं। तथा जिनका अनुभाग वादरकृष्टि से भी क्षीणतर हो गया है, उसका सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं। तीन करण के परिणामों से क्रम से लोभकषाय के बिना चारित्र मोहनीय की शेष बीस प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय होने पर सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्मसांपराय संज्ञक दशवां गुणस्थान होता है। ग्यारहवें और बारहवां गुणस्थान के स्वरूप पहले कह चुके हैं। अब आगे तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

इस जीव के अनादिबद्ध अष्टकर्मों की १४८ प्रकृति हैं। उनमें से तद्भवमोक्षगामी जीव के नरक, तिर्यंच और देव आयु इन तीन प्रकृतियों की सत्ता ही नहीं होती है। जिस काल में यह जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, तब पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का क्षय कर लेता है। इस प्रकार तद्भवमोक्षगामी जीव के सातवें गुणस्थान के अन्त में दश प्रवृत्तियों की सत्ता नष्ट हो गई, तथा नववें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों का नाश करके दसवें गुणस्थान लोभप्रकृति का नाश पूर्वक बारहवें गुणस्थान के अन्त में १६ प्रकृतियों का नाश करता है।

इस प्रकार चार घातिया कर्मों की ४७ और अघातिया कर्मों की १६ कुल मिलकर ६३ प्रकृतियों के नाश से जीव से इस जीव के केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा योगों का इसके सद्भाव है। इस कारण यह जीव संयोग-केवली संज्ञक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

इस तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव को सकल परमात्मा तथा अर्हन्त कहते हैं। इनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्तचतुष्टय प्रगट होते हैं। ये अपनी दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों को धर्मोपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करते है।

यहाँ इस जीव के मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की तो पूर्णता हो गई है, परन्तु कषायों का सर्वथा नाश होने पर भी योगों का सद्भाव होने से योग और कषाय के अभावस्वरूप चारित्र की पूर्णता नहीं हुई है। इस ही कारण अभी मोक्ष भी नही हुई है। मूल शरीर को बिना छोड़े आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम समुद्घात है।

उस समुद्घात के सात भेद हैं। १—वेदनासमुद्घात २—कषाय-समुद्घात, ३—आहारकसमुद्घात, ४—वैक्रियिकसमुद्घात, ५—मार-णांतिकसमुद्घात, ६—तेजससमुद्घात और ७—केवलिसमुद्घात। वेदना के निमित्त से आत्मा प्रदेशों के बाहर निकलने का नाम नेदना-समुद्घात है। कषाय के निमित्त से आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम कषाय समुद्घात है।

छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के शंका उत्पन्न होने पर जो आहारक शरीर का पुतला मस्तक में से निकलकर केवली के निकट शंका दूर करने को जाता है, उसके साथ आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम आहारकसमुद्घात है। देवादिक अनेक शरीर धारणादिक रूप जो विक्रिया करते हैं, उसके नियित्त से आत्म प्रदेशों का शरीर से निकलने का नाम वैक्रियक समुद्घात है। मरण से पहले उत्पत्तिस्थान को स्पर्श करने के लिये आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर

निकलने का नाम मारणांतिकसमुद्घात है। शुभाशुभ तैजसशरीर के साथ आत्म प्रदेशों के बाहर निकलने का नाम तैजससमुद्घात है।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव के आयु कर्म को स्थिति से शेष कर्मों की स्थिति जब हीनाधिक होती है तब उन सब कर्मों की स्थिति समान करने के लिये केवलिसमुद्घात करता है। इस केवलिसमुद्घात के चार भेद हैं—दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण। प्रथम समय में आत्मा के प्रदेश चौदह राजू ऊँचे तथा शरीर की चौड़ाई के प्रमाण व्यास वाले गोल दण्डाकार हो जाते हैं। इसको दण्डकेवलि समुद्घात कहते हैं।

दूसरे समय में जब आत्मा के प्रदेश पूर्व पश्चिम अथवा उत्तर और दक्षिण दिशा में लोकांत को स्पर्श करें और चौड़ाई में शरीर की चौड़ाई के प्रमाण हों, ऐसी अवस्था को कपाटसमुद्घात कहते हैं। वातवलय के बिना समस्त लोक में जब तीसरे समय आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं, ऐसी अवस्था को प्रतरसमुद्घात कहते हैं। चौथे समय में जब आत्मा के प्रदेश वातवलय सहित समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं, ऐसी अवस्था को लोकपूर्णसमुद्घात कहते हैं। इसके पश्चात् पुन: पांचवें समय में आत्मा के प्रदेश प्रतररूप होते हैं। छठे समय में कपाटरूप, सातवें समय में दंडरूप और आठवें समय में पुन: शरीराकार हो जाते हैं।

इस प्रकार केवली समुद्घात करने के पश्चात् अपने गुणस्थान के अन्त में योगों का निरोध करके अयोगकेवली संज्ञक चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान का काल "अ इ उ ऋ लृ" इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल के समान है। इस गुणस्थान के उपान्त समय में ७२ और अन्त समय में १३ इस प्रकार ८५ प्रकृतियों का नाश करके ऊर्ध्वगमन स्वभाव से मोक्षधाम को प्रस्थान करता है।

इस व्याख्यान के समाप्त होने पर उस दिन की सभा विसर्जन की गई।

सत्रहवाँ पर्व

जब तक जयदेव कंचनपुर में रहा, तब तक हीरालाल अपनी सम्पत्ति आदि के विषय में चूं तक न कर सका। यद्यपि संसार में यही प्रसिद्ध था कि रतनचन्द का उत्तराधिकारी हीरालाल है, परन्तु अपने उस दिन के दुराचार से वह इतना डरपोक हो गया था कि अपनी दुकान में भी जाने का साहस नही कर सकता था। उस दुर्दिन के पश्चात् जिस दिन कि जयदेव ने रामकुंवरि के साथ उसे रिहाई दी थी, चार छह दिन तो वह कुछ स्मशानबैराग्य के समान विरक्त तथा उदास रहा था, परन्तु पीछे पापिनी रामकुंवरि की छेड़छाड़ से तथा सम्पत्ति आदि के प्राप्त करने की चिन्ताओं से वह अपने दुष्कृत्यों को भूल गया। उसके हृदय पर थोड़ी बहुत पश्चात्ताप की रेखा थी, ज्यों-ज्यों दिन बीते, वह भी विलीन हो गई।

उसी समय एक दो दर्शनीय मित्र भी जैसे कि पापियों को प्राय: मिल जाया करते हैं, हीरालाल को आ मिले। उन्होंने चार ही छह दिन में अपनी वाक्पटुता से आशा के बड़े-बड़े दृश्य दिखलाकर हीरालाल को चेला बना लिया और उसके अन्तरङ्ग की सब बाते पूछ ली। उनकी दर्शनीय मित्रता के प्रबल प्रवाह में हीरालाल ने अपने अपयश के भय को निशङ्क बहा दिया। उमे इस बात का मान भी न रहा कि यदि ये लोग मुझ से विरुद्ध हो जावेंगे, तो मैं मुंह दिखाने के योग्य भी न रहूँगा।

जयदेव की दृष्टि बहुत विस्तृत थी। वह बहुत दूर तक देखता था और तदनुसार बहुत दूर तक विचरता भी था। हीरालाल को एक दो बार उक्त मित्रों के साथ बैठा देखकर वह समझ गया कि इन लोगों के द्वारा कोई अघटित घटना अवश्य होगी। और इसीलिये गुप्तरूप से वह उनकी गति पर ध्यान रखने लगा। एक रात्रि को रामकुंवरि हीरालाल और उसके मित्रों की गुप्तमन्त्रणा हुई कि जयदेव को यमालय पहुँचाये विना हम लोगों का कार्य सिद्ध न होगा, इसलिये उसको

शीघ्र खपा डालने का कोई प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे ही जयदेव के गुप्तचर ने उसे इस मन्त्रणा का समाचार सुनाया। और उसे सुनकर जयदेव ने जो कुछ किया, सो पहले कहा जा चुका है।

जयदेव के चले जाने पर हीरालाल को इस बात की प्रसन्नता हुई कि अब मुझे अपनी सम्पत्ति का अधिकार मिल जावेगा। यद्यपि वह यह जानता था कि जयदेव मुझे दूकान के प्रबन्ध करने के अयोग्य ठहरा गया है, इसलिये तत्काल ही मुझे अपना अधिकार नहीं, मिलेगा। परन्तु उसे यह आशा अवश्य थी कि आज नहीं, चार छह महीने पीछे आखिर मैं उसे प्राप्त कर ही लूंगा। सर्वथा ही अधिकार-च्युत कर दिया जाऊंगा, इसका उसे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। क्योंकि उसे यह विश्वास था कि जयदेव के सिवाय मेरा दुष्कृत्य अन्य कोई नहीं जानता है। और वह अपनी सज्जनता के कारण मेरे दोषों को अपने साथ ही ले गया होगा।

वसीयतनामा भी उसी के नाम का था, इसलिये उसका भी अब कुछ भय नहीं रहा। क्योंकि अब वह वापिस नहीं आवेगा। वह बड़ा ही निष्पृह तथा निर्लोभी पुरुष था। द्रव्य प्राप्ति की लालसा उसमें कभी थी ही नहीं। इसलिये या तो वसीयतनामा को वह फाड़ चीर के फेंक गया होगा, अथवा अपने साथ ही लिये गया होगा।

इस प्रकार के मनोरथ के घोड़े दौड़ाते हुए हीरालाल ने उस दिन जब कि सारा नगर जयदेव के शोक में व्याकुल हो रहा था, बड़ी खुशी मनाई और अपनी मित्रमंडली का उस दिन खूब सत्कार किया।

इस खुशी की चहलपहल कई दिन तक रही। मित्रों की मिजवानी में नाचरंग में और यहां वहां के खुशामदखोरों को पारितोषिक देने में हीरालाल ने सैकड़ों रुपये फूंक दिये। यद्यपि उसके पास अधिक पूंजी नहीं थी। जो कुछ जयदेव ने निर्वाह के लिये दिया था, वही था। परन्तु सारी सम्पत्ति का अधिकार मिलने की आशा में इसका उसे कुछ ख्याल ही नहीं रहा। रामकुंवरि भी इसी आनन्द में मग्न थी। स्त्रियों को जेवर प्राण से भी प्यारा होता है परंतु उसने उस समय

हीरालाल से कह दिया कि जरूरत हो तो इसे भी काम में ले आना।

हीरालाल के पास जो कुछ द्रव्य था, वह खर्च हो चुका। नवीन आमदनी का कुछ ठिकाना नहीं था। परन्तु मित्रमंडली बढ़ती जाती थी और साथ-साथ खर्च के नवीन-नवीन द्वार भी खुलते जाते थे। यद्यपि भावी अधिकार की प्राप्ति की प्रसन्नता में हीरालाल को वह खर्च एक सामान्य बात मालूम पड़ती थी, परन्तु उस सरीखी आशा अन्य लोगों के नहीं थी। इसलिये प्रतिष्ठित महाजनों की तो बात ही क्या, साधारण दूकानदार भी उसके साथ कागजी लेन-देन करने को हिचकते थे। सब ही "आज नगद कल उधार" का व्यवहार रखते थे।

सारांश यह कि बिना नकदी के हीरालाल को बाजार में एक पैसे की भी वस्तु नहीं मिलती थी। एक दिन किसी राजकीय कर्मचारी की सम्भावना करने के लिए हीरालाल को रुपयों की आवश्यकता हुई। परन्तु घर में रुपये नहीं थे। सिवाय जेवर के कोई ऐसी वस्तु भी नहीं थीं, जिसे बेचकर काम चलाया जाय। लाचार वह जेवर बेचने के लिए ही तैयार हुआ। यद्यपि रामकुंवरि ने अपने अलंकार देने के लिये कह दिया था, परन्तु हीरालाल का साहस नहीं हुआ कि उससे बिक्री के लिये जेवर मांगे। क्योंकि निरन्तर ही उसे यह भय लगा रहता था कि कहीं रामकुंवरि अप्रसन्न न हो जावे।

केवल प्रेमपिपासा की पूर्ति के लिये ही वह रामकुंवरि को प्रसन्न रखने के प्रयत्न में नहीं रहता था। किन्तु दूकान का अधिकार पाने में भी वह रामकुंवरि को एक बड़ा भारी साधन समझता था। क्योंकि रामकुंवरि की स्वीकारता के बिना उसके पति की जायदाद का सम्पूर्ण अधिकारी हीरालाल नहीं हो सकता था।

उन दिनों हीरालाल की परिणीता स्त्री सुभद्रा कंचनपुर में ही थी। जयदेव ने उसे इसलिये बुलवाया था कि शायद उसके संसर्ग में हीरालाल सुधर जावेगा। यद्यपि सुभद्रा ऐसी बुद्धिमती और रूपवती

स्त्री थी कि हीरालाल को सदाचारी बना लेना उसके लिये कोई कठिन कार्य नहीं था। परन्तु रामकुंवरि की कृपा से तथा और भी अनेक कुत्सित पुरुषों की संगति के प्रताप से उसे अपने पतिसंसर्ग का बहुत कम सौभाग्य प्राप्त होता था।

वह बहुत प्रयत्न करती थी कि कभी पति से एकान्त में वार्तालाप करने का अवसर प्राप्त हो, परन्तु रामकुंवरि के षड्यन्त्र के कारण वह बहुधा उससे वंचित रहती थी। कभी-कभी तो उसे दर्शनों का भी लाभ नहीं होता था।

जब तक कंचनपुर में जयदेव रहा, तब तक हीरालाल सुभद्रा से मिलता था और रामकुंवरि भी उसके इस कार्य में बाधा नहीं डाल सकती थी। परन्तु जब से उसने कंचनपुर छोड़ा, तब से तो सुभद्रा का भाग्य सर्वथा ही फूट गया। रातदिन एकांत में बैठी हुई वह अपने भाग्य पर रोती थी और अपने सुकोमल सुन्दर शरीर को इस विषय वेदना की अग्नि में झुलसाती रहती थी।

सावन का महीना है। रात्रि के बारह बज चुके हैं। पानी रिमझिम-रिमझिम बरस रहा है। अन्धकार का अटल अधिकार हो रहा है। कभी-कभी चंचला चमककर संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान करा रही है। सड़कों पर आवागमन सर्वथा बन्द है। सारा नगर घोर निद्रा में मग्न हो रहा है। कहीं-कहीं संयोगी नायक नायिकाओं के प्रणय-कलह की विनय अनुनयों की घुसफुस सुनाई देती है। परन्तु इतनी अस्पष्ट की मकानों की दीवालों से कान लगाये बिना उनका कुछ अर्थ भान नहीं होता। वियोगी नायक करवटें बदल रहे हैं। और नायिकायें मेघों को, मयूरों को, झिल्लियों को जिनके शब्द सुनती हैं, उन्हीं को कोस रही हे। गलियां कर्दममय और मुख्य मार्ग जलमय हो रहे हैं।

ऐसे समय में घर से निकलना सबका काम नहीं है। तो भी 'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुख' की उक्ति के अनुसार एक अज्ञातपुरुष एक बड़े भारी कम्बल से अपने शरीर को छुपाये हुए

रतनचन्द्र जौहरी की हवेली के पास पहुँचा, और पश्चिम की ओर गली में जाकर एक खिड़की के नीचे भीत के सहारे खड़ा हो गया। खिड़की में एक टिमटिमाते हुए दीप का प्रकाश बाहर आता था। खिड़की जमीन से इतनी ऊंची थी कि मनुष्य खड़ा होकर उसमें से भीतर का दृश्य कठिनाई से देख सकता था। उसमें लोहे के सींकचे लगे हुए थे। खिड़की के पास ही एक दरवाजा था, जिसके किवाड़ बन्द थे।

भीतर एक युवा पलंग पर बैठा हुआ है। और एक अबला उसके पैरों से लपट रही है। युवा अपने हाथों से निवारण करना चाहता है, परन्तु अबला पैर नहीं छोड़ती है। उसके नेत्रों से अविरल आंसूओं की धारा बह रही है, जिससे युवा के पैरों का अभिषेक हो रहा है। अबला कह रही है कि "प्राणेश्वर! दासी और कुछ नहीं चाहती है। रातदिन २४ घण्टों में केवल एक बार दर्शन चाहती है। परंतु हाय! आप उसमें भी कंजूसी करते हैं। अब कुछ दिन से उसकी भी प्राप्ति दुर्लभ हो गई है।

मैं मानती हूँ कि आपको कुमार्ग में जाते हुए रोककर बुरी संगति के दोष दिखाकर मैंने एक अपराध किया है, आपके हृदय को दुःख पहुँचाया है, परन्तु जीवनधन! इतना वह अपराध इतना बड़ा नहीं है, जिसपर मुझे यह दण्ड दिया जावे? यद्यपि स्वामिकार्य में बाधा उपस्थित करना सेविका का कर्तव्य नहीं है, तथापि यदि वह कार्य देखकर दोषास्पद हो तो उसका निवारण करना अपराध भी नही गिना जा सकता। इसके सिवाय नाथ! मैं आपकी अर्धाङ्गिनीं हूँ। नीति के अनुसार आपके सम्पूर्ण सुख-दुःख तथा पाप और पुण्य की भागिनी हूँ।

इसलिये विचार कीजिये कि आपको उस मार्ग में जाते हुए देखकर आपकी तथा आपके कुल की कीर्तिपर कालिमा फिरते हुए देखकर और अपने सुखभाग्य को नष्ट होते देखकर मैं कैसे चुप रहूँ? मैं बहुत चाहती हूँ कि आपसे इस विषय में कुछ भी नहीं कहूँ, क्योंकि इससे लाभ के स्थान में हानि होती है, आप अधिकाधिक अप्रसन्न होते

जाते हैं। परन्तु क्या करूं, यह मूर्ख हृदय नहीं मानता है, और फिर भी कहने के लिये अधीर होता है। इसे बहुत समझाया कि 'मूर्ख ! तुझे प्राणनाथ के गुण दोषों से क्या ? उनकी आलोचना करने वाला तू कौन ? वे दूसरी हजार स्त्रियों से प्रसन्न रहे, और मुझ पर अप्रसन्न रहे, इससे तुझे क्या ? पूर्व जन्म में जिसने जैसे कर्म कमाये हैं, उसे उनके वैसे ही फल मिलते हैं, इसमें हर्ष विषाद क्यों ? तुझे तो उनका प्रतिबिंब स्थापित करके अहर्निश पूजन करना चाहिये, भक्ति करना चाहिये, और उसके द्वारा उन्हें प्रसन्न करना चाहिये । यही तेरा कर्तव्य है ।

परन्तु जड़हृदय नहीं समझता है. और बार-बार मुझे आपसे प्रार्थना करने के लिये अधीर करता है। मेरे सच्चे उपास्य देव ! एक बार मेरी परीक्षा करके देखो कि आपके चरणों में मेरी कैसी अनन्य भक्ति है। मेरे हृदय को चीर कर देखो कि आपकी मनोमोहनी मूर्ति उसमें कैसे आदर भाव से चित्रित है और एक बार आज्ञा देकर देखो कि दासी आपके लिये किस प्रकार क्षण भर में अपने प्राणों का उत्सर्ग करती है !

नाथ ! इतने पर भी मैं अपने सौभाग्य सुख की अधिकारिणी नहीं हूँ, आपको प्रसन्न करने में समर्थ नहीं हूँ, तो मेरा दुर्दैव ! परन्तु जीवन सर्वस्व ! एक बार यह भी तो बतलाओ कि अन्यत्र आपको कितना सुख मिलता है ? कितनी शान्ति मिलती है ? और जिन्हें अपने सुख-शान्ति का उपकरण माना है, वे आपको कितने दिन उस शान्ति का दान करता रहेगा ? यदि इन प्रश्नों का आप यथार्थ उत्तर दे देवेंगे, तो मुझे मालूम हो जावेगा कि आगे आपका जीवन सुख शान्तिता के साथ व्यतीत होगा, तो मुझे प्रसन्नता होगी। फिर मुझे कोई चिन्ता नहीं रहेगी। आनन्द से मैं अपनी जीवनलीला समाप्त कर दूंगी। मुझे जो कुछ चिन्ता है, वह आपके आगामी जीवन की है। मुझे सुख हुआ तो क्या ? और दुःख हुआ तो क्या ? उसकी कुछ गिनती नहीं है।

यथार्थ में आपका सुख दुःख ही मेरा सुख दुःख है। और इसलिये आपको दुःख के मार्ग पर चलते हुए देखकर मैं अधीर हो जाती हूं। आप यदि कल से उन्मार्ग छोड़कर सुमार्ग से लग जावें, तो फिर चाहें मुझे अपनी स्नेहपात्री बनायें चाहे नहीं, मुझे कोई दुःख नहीं रहेगा। और साथ ही यदि आप दिन में केवल एक बाहर दर्शन देना स्वीकार कर लेंगे तो संसार में मैं अपने बराबर किसी को सुखीं नहीं समझूंगी।

इसके पश्चात् युवती ने आँसू पोंछते हुए कहा—"नाथ ! इतनी रात को आज अचानक दासी पर कृपा की यह सौभाग्य का विषय है, परन्तु न जाने क्यों इस समय आपका मुख कुछ चिन्ताग्रस्त तथा उद्विग्न दिख रहा है। यदि दासी से कहने में कुछ हानि न हो तो इसका कारण कहिये।

जब तक युवती उपर्युक्त बातें करती रही, तब तक युवा निस्तब्ध भाव से सुनता रहा। बाहर खड़े हुए अज्ञान पुरुष के हृदय पर उस अबला के वाक्यों का इतना असर हुआ कि आँसू भर आये, और हृदय उमड़ आया। वह समझता था कि युवा के हृदय पर भी ऐसा ही असर होगा। क्योंकि अबला की बातें पत्थर को भी पिघलाने वाली थीं। परन्तु यथार्थ में उस युवा के हृदय पर शतांश असर भी न हुआ।

वह बोला—आजकल दूकान का अधिकार पाने के प्रयत्न से रात दिन शरीर को चैन नहीं मिलती है। इसी से शायद तुम्हें मेरा मुंह उदास दिखा होगा। और कोई बात नहीं है। इस समय मुझे कुछ रुपयों की आवश्यकता हुई है। इसलिये तुम्हारे पास आया हूं। यदि तुम अपना गहना दे दो तो काम निकल सकता है।

सुभद्रा-जीवनधन ! जब यह शरीर ही आपका है, इन प्राणों पर भी आपका अधिकार है, तब फिर तुच्छ गहना तो किस गिनती में है? लीजिए ले जाइये ! परन्तु जीवितेश्वर ! मैंने जो अनेक प्रार्थनायें

की उनका आपने एक भी उत्तर न दिया, एक शब्द भी नहीं कहा; जिससे आत्मा को कुछ सन्तोष होता।

हाय ! अरण्य में पड़े हुए अशरण्य जीव के रोदन के समान मेरी सब प्रार्थनायें विफल हुईं। वायुमण्डल में टकराकर नष्ट हो गईं। अस्तु, मेरी उक्त बातें आपको उचित नहीं जंची तो जाने दीजिये।

"दूध पिला पिलाकर पाले हुए काले सांप अमृत सेवन करेंगे ?" भले ही आप अपने इन विचारों को ब्रह्मवाक्य समझिये। अब मैं आगे कभी उनकी चरचा नहीं करूंगी। आपकी जो इच्छा हो, प्रसन्नता से कीजिये। परन्तु एक बार यह तो कह जाइये कि इस दासी को प्रतिदिन एक बार दर्शन मिला करेंगे कि नहीं ?

इसके पश्चात् अबला ने फिर युवा के पैर पकड़ लिये और कहा, नाथ ! और सब कुछ दुःख सहन करने को दासी तैयार है, परन्तु दर्शन वियोग नहीं सह सकती। एक दर्शन की आशा से मैं इन प्राणों को रख सकती हूँ। अन्यथा निश्चिय समझिये कि अब ये प्रान नहीं रहेंगे। जब प्यारे के दर्शन भी नहीं मिलेगे, तब संसार में रहना ही किसलिये ?

हमारे पाठक समझ ही गये होंगे कि उक्त युवा और कोई नहीं, रतनचन्द के सुपूत हीरालाल हैं, और अबला उनकी स्त्री सुभद्रा है। इसलिये आगे युवा आदि सांकेतिक शब्द न लिखकर हम इन्हें हीरालाल तथा सुभद्रा ही लिखेंगे।

हीरालाल का जैसा कुछ स्वभाव था, और वर्तमान में सुभद्रा की ओर जैसा कुछ सद्भाव था, उसके अनुसार वह सुभद्रा को दो चार गालियां सुनाये बिना नहीं जाता। परन्तु सुभद्रा की बातचीत और भावभंगी ऐसी हृदयद्रावक तथा प्राभाविक थी कि उसके कारण हीरालाल के विचार बदले तो नहीं, परन्तु ढीले अवश्य हो गये। और परिवर्तन के कारण वह यह कहकर चला गया कि अवकाश मिलेगा तो आया करूंगा।

गहने का सन्दूक जो सुभद्रा ने लाकर रक्खा था, उसे साथ लेता

गया। सुभद्रा जहां तक देख सकी हीरालाल की ओर देखती रही। और पीछे किवाड़ लगाकर अपनी कर्मगति पर घण्टों विचार करती करती, सो गई।

अज्ञातपुरुष कम्बल से शरीर छुपाये हुए हीरालाल के पीछे-पीछे चला गया।

यहां यह कह देना उचित होगा कि रतनचन्द की रहने की हवेली में नीचे के एक कमरे में जिसका कि अभी हम वर्णन कर चुके है, सुभद्रा रहती थी और हवेली के ऊपर पूर्व की ओर के कमरे में जिसका कि जीना पूर्व को ही था, रामकुंवरि रहती थी। लोगों के हृदय में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न न हो इस विचार से जयदेव ने रामकुंवरि तथा हीरालाल को उक्त हवेली में से निकालना उचित नहीं समझा था। आज हीरालाल ऊपर रामकुंवरि के निकट से सुभद्रा के कमरे में आया था। क्योंकि जयदेव के जाने के पश्चात् उसका और उसके मित्रों का अड्डा रातदिन ऊपर के कमरे में ही रहता था।

यद्यपि सुभद्रा हीरालाल को समझाती थी और उसे बुरे मार्ग पर चलने से रोकती थी तथापि हीरालाल उससे अप्रसन्न नहीं रहता था। वह रात को उसी के कमरे में जाकर विश्राम करता था। परंतु रामकुंवरि को जब यह बात मालूम हुई कि सुभद्रा अपने पति को अच्छी शिक्षा देती है, तब उसे अपनी माया के नष्ट हो जाने की चिन्ता हो गई। इसलिये उसमें थोड़े ही दिन पीछे हीरालाल के कृत्रिम मित्रों के द्वारा एक षड्यन्त्र रचकर सुभद्रा की ओर से उसका चित्त बदल दिया। और तब से हीरालाल ने सुभद्रा के पास जाना आना सर्वथा बन्द कर दिया। परन्तु बेचारी सुभद्रा षड्यन्त्र की बात से अज्ञात रही।

अठारहवाँ पर्व

आज कंचनपुर में बड़ा कोलाहल मच रहा है। जहाँ तहाँ से लड़कों के झुंड हाथों में कंकर पत्थर लिये दौड़े जा रहे हैं। प्रौढ़ नर-नारी भी कौतुक देखने की लालसा से जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाये जा रहे हैं। दिन के ११ बजे हैं, काम समय का है, थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा है तो भी लोग इस विचित्र सम्मेलन में शामिल होने के लिये आकुल व्याकुल हो रहे हैं।

बात की बात में राजद्वार के सम्मुख हजारों आदमियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। देखा दो, गधे एक विलक्षण प्रकार से सजाये गये हैं और उनमें से एक पर एक पुरुष और दूसरे पर एक स्त्री की सवारी कराई गई है। दोनों के सिर तत्काल ही सफाचट किये गये हैं और उन पर अतिशय काला तैल मिश्रित रंग पोतकर कलङ्गी के स्थान में एक एक बुहारी बांध दी गई है! वस्त्र भी दोनों को काले पहनाये गये हैं। लोहे के बड़े-बड़े बेढंगे आभूषण पहनाकर तो दोनों को साक्षात् राक्षस ही बना दिया है। बडा ही भयावना दृश्य था। लोग देखने के लिये टूटे पड़ते थे।

थोड़ी देर में यह सवारी राजमार्ग पर से अग्रसर हुई। चारों ओर से धिक्कार! धिक्कार! छिः! छिः! के शब्दों की बौछार होने लगी। पीछे-पीछे एक विचित्र ही प्रकार के शब्द करने वाले बाजे बजने लगे। आगे आगे काली धुजा पताकायें चलने लगीं, जिन पर मोटे-मोटे अक्षरों में इस प्रकार के अनेक वाक्य लिखे हुए थे, किये हुए कर्मों का फल, जो 'जैसा करै सो तैसा फल चाखा,' इस लोक में पाप का फल इस प्रकार से मिलता है, "आगे भी भयंकर फल भोगने पड़ेंगे।" उद्दंड लड़के चारों ओर से कंकर फेंकने लगे, और आनन्द में उछल-उछल कर नाना प्रकार की तुकबंदियां जोड़-जोड़ कर गाने लगे। पाठकों के विनोद के लिये उनकी एक तुकबंदी का नमूना हम यहाँ पर देते हैं :—

रामकुंवरि हीरा का जलसा, देखो लड़कों ! दौड़ ।
किये कर्म का मजा चखाओ, यारो ! करो न देर ।।
मारो कंकर मारो पत्थर, मारो कंडे ईंट ।
धूल उड़ाओ देओ गाली गाओ बांके गीत ।।

थोड़ी दूर चलकर प्रौढ़ लोग हर्ष, विषाद, आश्चर्य, ग्लानि, पश्चात्ताप आदि नाना प्रकार के भावों में तन्मय होते हुए और परस्पर रामकुंवरि हीरालाल की चर्चा करते हुए अपने-अपने घरों को लौटने लगे। कोई कहता था, अफसोस हीरालाल ने रतनचन्द जौहरी के नाम को डूबा दिया। कोई कहता था, मालूम नहीं हुआ, महाराज ने एकाएक किस अपराध पर इन दोनों की ऐसी दुर्दशा की। कहीं ऐसा न हो कि ये विचारे निर्दोष हों और लोगों के कहने से इन्हें यह दण्ड दिया हो। कोई कहता था, सन्देह तो मुझे भी बहुत दिन से था, परन्तु विश्वास नहीं था।

अब निश्चय हो गया, कि अवश्य ही ये दोनों परस्पर पाप पंक में लिप्त थे। कोई कहता था, मैं भी बहुत दिन से हीरालाल को बुरी संगति में देखता था। यह उसी का फल है। सारांश यह कि सब ही लोग इस समय अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार फैसला देकर अपने-अपने घर जा रहे थे, केवल बालकगण उस जूलुस की शोभा बढ़ाने वाले रह गये। नगर के प्रत्येकमार्ग मे चारों ओर हीरालाल रामकुंवरि की सवारी निकाली गई और अन्त में उन दोनों को उसी ठाट से राज्य सेवक कंचनपुर राज्य की सीमा से बाहर करने के लिगे ले गये। यह समाचार ज्यों ही सुभद्रा के पास पहुँचे कि शोक के उद्वेग से वह अचेत हो गई। और थोड़ी देर में जब सचेत हुई, तब अपने भाग्य पर बड़ी करुणध्वनि से रोने लगी। हाय ! संसार में अब मैं जीकर क्या करूंगी ! जब नाथ ही चले गये, तब मैं किसके लिये जीऊं ? हाय हाय ! मैंने कितना समझाया, पर प्राणनाथ ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। और अन्त में मुझ पर यह चिरवियोग का पहाड़ लाकर पटक दिया।

नाथ ! तुम्हारे सम्मुख रहते हुए मैं सब कुछ दुःख सह सकती थी, परन्तु अब तुम्हारे वियोग में मैं तीन लोक के सम्पूर्ण सुख भी नहीं सह सकती। हे कांचनपुर नरेश ! तुमने यह क्या अनर्थ किया ! हाय मुझ अबला पर तुम्हें कुछ भी दया न आई। ऐसा ही करना था तो मुझे भी उनके साथ कर दिया होता। इससे मैं बहुत प्रसन्न होती।

हाय ! अब मैं अन्त समय में पति का मुख निरीक्षण किये बिना भी कैसे मरूं ! और उनके वियोग में जीऊं भी कैसे ? हाय ! मैं कहीं की भी न हुई। इस अभागे गर्भ का अब मैं क्या करूं ! इसका रक्षण कैसे होगा ? हा हन्त ! यदि अब मैं अपने प्राण देती हूँ, तो अपने और तेरे घात करने के पातक की भागिनी होती हूँ। और जो रक्षा करती हूं तो प्राणनाथ की असह्य वियोगता से उत्तप्त होना पड़ेगा। तू न होता तो आज प्रसन्नता के साथ मैं उनकी अनुगामिनी हो जाती, अथवा इस पापमयी संसार से छुटकारा पाने के लिये, तथा मनुष्य-जन्म को सफल करने के लिये जैनेश्वरी दीक्षा ले लेती। परन्तु दोनों में से एक भी नहीं हुआ।

सुभद्रा-इस प्रकार रोरोकर अपने दुःखों को किसी तरह हलका कर रही थी कि इतने में रतनचन्द जी की दुकान का प्रधान मुनीम विनीतचन्द आया और बोला-मैं श्रीमान कंचनपुर नरेश की आज्ञानुसार आपके पास आया हूं। क्योंकि आप सेठ रतनचन्दजी की दूकान की स्वामिनी बनाई गई हैं। आज से उक्त दूकान का कामकाज आपकी इच्छानुसार चलाया जायगा। मैं दूकान का प्रधान मुनीम हूँ, इसलिये सूचना देने के लिये आया हूं। जो कुछ उचित समझें, मुझे, आज्ञा दें। महाराज ने यह भी संदेशा भेजा है कि गत बातों को भूलकर आप सन्तोषपूर्वक अपने चरित्र की रक्षा करते हुए रहें।

महाराज की ओर से इस बात का सविशेष ध्यान रहेगा कि आपको किसी की ओर से किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचे। आप निःशंक होकर अपनी हवेली में निवास करें। इसके सिवाय मैं एक विश्वास-पात्र नौकर और दो तीन सदाचारिणी दासियों की तजबीज करके

आया हूँ। वे आज संध्या तक आपकी सेवा में उपस्थित हो जावेंगी। उनके आ जाने से आपको शारीरिक कष्ट न उठाना पड़ेगा। यह सच है कि आप पर एक असह्य कष्ट आकर पड़ा है, और उसके आगे यह सब वैभव तुच्छ है, परन्तु अपनी शारीरिक अवस्था देखकर इस समय सन्तोष किये बिना और दुःख को भुलाये बिना गत्यन्तर ही नहीं है। इससे अधिक और मैं क्या कहूँ, आप स्वयं बुद्धिमती हैं, सब कुछ सोच समझ सकती हैं। इसके उत्तर में सुभद्रा ने कुछ भी नहीं कहा, और मुनीम ने भी उत्तर की आवश्यकता न समझकर अपनी राह ली।

यहाँ पाठक बड़ी उलझन में पड़े होंगे कि एकाएक हीरालाल तथा रामकुंवरि की ऐसी दुर्दशा क्यों की गई और सुभद्रा दुकान की अधिकारिणी क्यों बनाई गई। इसलिये हम उनके समाधान के लिये लिखना उचित समझते है कि गत रात्रि को सुभद्रा के कमरे के पास जो अज्ञात-पुरुष कम्बल ओढ़े हुए खड़ा था, वह और कोई नहीं स्वयं कंचनपुर-नरेश थे।

प्रजा के सुख दुःख की सुधि लेने के लिये वे निरन्तर दूसरे चौथे दिन गुप्त रूप से नगर में घूमा करते थे। और इसलिये उनका सम्पूर्ण राज्यकार्य केवल तिल का पहाड़ बनाने वाले अथवा सुमेरु को राई बनाने वाले राज्य कर्मचारियों के भरोसे पर नही चलता था। जिस विषय में उन्हें सन्देह होता था, उसका वे स्वयं अपनी दृष्टि से निवारण करते थे। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े आदमी से मिलने में उन्हें संकोच नहीं होता था। सब के साथ वे एक सी दया और शिष्टता का वर्ताव करते थे।

खेद है कि वर्तमान में भारतवासियों को ऐसे राजाओं की प्राप्ति स्वप्न हो गई। यहाँ तो अब राजकर्मचारी ही सब कुछ हैं। जैसा चाहे, वैसा सफेद स्याह करने का उन्हें अधिकार है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि प्रजा अत्याचार की चक्की में पिसी जाती है और राजेश्वर के कानों-तक उसकी भनक भी नहीं पहुँचती।

कंचनपुर नरेश उसी भेष में हीरालाल के साथ-साथ चले गये।

थोड़ी दूर चलकर हीरालाल एक मकान में प्रवेश करके अपने एक मित्र के साथ बाहर निकला। इस समय उसके हाथ में गहने की पेटी नहीं, किन्तु रुपयों की एक थैली थी। पश्चात् सौ डेढ़सौ कदम चलकर वह एक दूसरे मकान में गया। उसके तीसरे मंजिल के एक दीवान खाने में एक शमादान जल रहा था, और पांच सात आदमी बैठे हुए थे। हीरालाल के पहुँचते ही वे सबके सब प्रसन्न हुये, मानो इसके आने की राह देख रहे थे। कंचनपुर नरेश एक किवाड़ की ओट में छुपकर भीतर की बातें सुनने लगे।

यह दीवानखाना एक प्रतिष्ठित राजकर्मचारी का था, जिसके हाथ में सब प्रकार के आज्ञापत्र, योग्यतापत्र आदि लिखने का अधिकार था। थोड़े ही दिन हुए पुराने कर्मचारी के मरने से इसकी नियुक्ति की गई थी।

इसका नाम सुन्दरलाल था। इसका बाहरी रंग ढंग, बोल चाल तथा कार्य करने की और उसमें सम्मति देने की शैली ऐसी अच्छी थी कि प्रत्येक पुरुष उसे विश्वास की दृष्टि से देखता था। महाराज भी इसको विश्वस्त कर्मचारी समझते थे। परन्तु यथार्थ में इसका हृदय बहुत काला था। हीरालाल ने अपने मित्रों के जरिये जो कि वहाँ पहले ही से जमे हुए थे, पाँचसौ रुपये की एक थैली सुन्दरलाल को भेंट की और अपनी इच्छा प्रगट की।

इस विषय में बहुत सा वार्तालाप हुआ, जिसे महाराज ने खूब ध्यान देकर सुना। सबका सारांश केवल इतना ही था कि सुन्दरलाल ने सब के सम्मुख प्रतिज्ञा की कि मैं महाराज से हीरालाल की योग्यता और चलन की सिफारिश करके जैसे बनेगा तैसे दूकान का सम्पूर्ण स्वत्व दिलवा दूँगा।

सुन्दरलाल की प्रतिज्ञा सुनकर महाराज को इतना क्रोध आया कि उसके आवेश में वे उसे उसी समय दण्ड देने को तैयार हो गये। परन्तु तत्काल ही कुछ सोचकर और योग्य अवसर न देखकर वे वहाँ से दबे पैर चुपचाप चल दिये।

राजमहल में लौटकर उन्होंने उसी समय दो तीन गुप्तचरों को बुलाया। और उन्हें आज्ञा दी कि आज रात भर में जिस तरह बन सके उस तरह रामकुंवरि और हीरालाल के चाल चलन का सच्चा-सच्चा अनुसंधान करके प्रातः काल हमको सूचित करो।

गुप्तचर (जासूस) 'जो आज्ञा' कहकर उसी समय चले गये, और महाराज विश्राम करने के लिये शयनागार में गये। प्रातःकाल सोकर उठते ही महाराज को जासूसों ने अपनी-अपनी विज्ञप्ति पृथक्-पृथक् सुनाई, जिसे सुनकर महाराज ने जयदेव के कथन को और अपने अनुमान को यथार्थ पाया।

उस दिन दरबार में सुन्दरलाल ने मौका पाकर महाराज से हीरालाल की सिफारिश की और उसका हक उसे देने के लिये भी प्रार्थना की। महाराज उस समय अपने क्रोध को संवरण न कर सके। उन्होंने उच्चः स्वर से कहा,—इस पापी को इसी समय हथकड़ी डालकर ले जाओ और एक साल के लिये जेल में ठूंस दो। हीरालाल के मित्रों का भी यही सत्कार करो। इसके सिवाय हीरालाल और रामकुंवरि को राजकीय पद्धति के अनुसार काला मुंह करके देश से निकाल दो। रतनचन्द को दूकान का सम्पूर्ण अधिकार हीरालाल की साध्वी स्त्री सुभद्रा को दे दो। इस आज्ञा के सुनते ही दरबार में सन्नाटा छा गया। लोग एक दूसरे के मुंह की ओर देखने लगे। एकाएक विद्युत्पात होने से मनुष्य की जो दशा होती है, सुन्दरलाल की वही दशा हुई। महाराज क्रोध से आरक्त नेत्र किये हुये उसी समय अन्तःपुर में चले गये।

उन्नीसवाँ पर्व

रात्रि के ग्यारह बज चुके हैं। सूर्यपुर के उद्यान वाले राजमहल के फाटक पर एक बलिष्ठकाय सिपाही पहरा दे रहा है। उसकी उम्र

३५ वर्ष के अनुमान होगी। शरीर ऊँचा परन्तु सुडौल है। सिर पर एक बड़ा भारी सफेद साफा बंधा हुआ है। कमर में तलवार लटक रही है। एक हाथ में बरछी लिये हुए है और दूसरा हाथ मूँछों पर है। साफे को छोड़कर सब पोशाक खाकी रंग की है। पैरों में दूर तक सुनाई देने वाले आवाजदार जूते हैं।

समीप ही एक सुन्दर स्त्री द्वार के सहारे बैठी हुई है। उसके दोनों हाथ रस्सी से बधे हुए हैं। स्त्री का नाम मालती है। यह दो तीन दिन से राजमहल मे सुशीला के पास जाया करती थी। और उसे घण्टों तक गुप्त रूप से वार्तालाप किया करती थी। आज किसी चालाक दासी ने दोनो के कथोपकथन में यह सन्देह करके कि ये दोनों भाग जावेगी, उदयसिंह को सूचना दी थी, जिससे उन्होंने मुश्क बांधकर रातभर पहरे में रखने की और सवेरे समक्ष में उपस्थित करने की आज्ञा दी थी। तदनुसार कैद करके यह पहरेदार की रक्षा में सौंपी गई है।

मालती नवीना नही प्रवीना प्रौढ़ा स्त्री जान पड़ती है। तो भी बाहरी वेषभूषा से, चमक दमक से, रंग ढंग से अपने सौन्दर्य को ऐसा बनाये है कि हजार नवीनाओं को नीचा दिखलाती है। उसके कज्जल-रेखारंजित, आकर्ण विस्तृत, बड़े-बड़े चंचल नेत्र और ताम्बूलरागलिप्त पक्वबिम्बाधरोष्ठ ही उसकी सम्पूर्ण शोभा के अनुमान के लिये सब है।

पहरेदार इधर-उधर टहलता अवश्य है, परन्तु उसकी दृष्टि मालती को बराबर अपना केन्द्र बनाये हुये है। यह देखकर मालती के हृदय में छुटकारे की आशा का संचार हो रहा है।

थोड़ी देर में अवसर पाकर उसने पहरेवाले के साथ वार्तालाप करना प्रारम्भ किया। पहरेवाला हो, चाहे यमदूत हो, सुन्दरी रमणी के साथ वार्तालाप करने की इच्छा किसे नहीं होती? मालती पहले यहाँ वहाँ की सामान्य बात करके उससे नाम, धाम, गृहकर्म, सुख-दुःख आदि की बातें पूछने लगीं।

अपने विषय में मालती की इतनी उत्सुकता देखकर पहरेवाला

बहुत प्रसन्न हुआ। मालती भी अवसर देखकर अपने अस्त्र शस्त्र बाहर निकाल के रखने लगी। एक ओर मालती का अमृतमय रसालाप, और दूसरी ओर उसके साथ-साथ उन विशाल नेत्रों का अव्यर्थ कटाक्षपात! बेचारा पहरेवाला पानी-पानी हो गया। जब मालती ने देखा, मेरे शस्त्र बराबर काम कर रहे है, तब वह कोमल स्वर से बोली—"मुझे न जाने क्यों डर लगता है। इस समय ठाकुर साहब! जरा आप मेरे पास आकर न बैट जावे?

पहरेदार चट से मालती के समीप जा बैठा। कुछ देर यहाँ वहाँ की बाते हो चुकने पर मालती ने ठाकुर साहब पर दो चार कटाक्ष संधान कर कहा- "आपके मस्तक पर पसीना बहुत आ रहा है, एक बार मेरे बन्धन खोल दो, तो मैं हवा कर दूं। पीछे फिर बाँध देना।"

ठाकुर साहब के मस्तक पर पसीने की एक बूंद भी नहीं थी। परन्तु मालती "बिना पसीना देखे कैसे कह देगी? और इन सुकोमल हाथों की हवा भला किसको नसीब हो सकती हे।" यह विचार कर ठाकुर साहब ने तत्काल ही बन्धन खोल दिये। तब मालती अपने अंचल के द्वारा कुछ देर तक हवा करके थम रही। पीछे ठाकुर साहब का साहस नही हुआ कि उस लावण्यवती से बन्धन के लिये फिर कहे! बेचारे स्वयं ही उसके बन्धन में बन्द हो चुके थे।

थोड़े समय के पश्चात् मालती ने कहा—ठाकुर साहब! तुम्हारी स्त्री क्या तुमसे प्यार नही करती?

पहरेवाले ने किंचित् विस्मत होकर पूछा—क्यों?

मालती ने कहा—"यदि करती होती, तो ऐसी पावस की रात्रियों में तुम सरीखे स्वामी को घर से बाहर जाने देती?"

ठाकुर साहब ने एक लम्बी सांस ली।

मालती ने शस्त्र संधानकर कहा—"ठाकुर साहब! क्या कहूँ, कहने में लज्जा आती है किन्तु यदि तुम मेरे स्वामी होते, तो ऐसे समय में मैं तुम्हें कभी बाहर नहीं जाने देती।"

पहरेवाले ने फिर एक लम्बी साँस ली।

"अहा! यदि तुम प्राणनाथ होते तो" इतना कहकर मालती अटक रही और उसने भी एक श्वास ली। साथ ही पहरेवाले को अपने तीक्ष्ण-कुटिल कटाक्षों का निशाना बनाया। बेचारे का मस्तक चकरा गया। वह धीरे-धीरे मालती के और भी पास खिसक गया। मालती भी थोड़ी सी उसकी ओर खिसक आई। और इसी समय उसने पहरेवाले के हाथ पर अपने कोमल करपल्लव स्थापित कर दिये। तब क्या था ?

ठाकुर साहब की अकल कूच कर गई।

मालती कहने लगी—पूछने में संकोच तो होता है, परन्तु पूछती हूं, कि क्या तुम पीछे कभी मेरा स्मरण करोगे ?

पहरे०—तुम्हारा स्मरण नही करूंगा ? नहीं ऐसा कभी नही हो सकता।

मालती—क्या तुमसे एक मनकी बात कहूँ ?

पहरे०—कहो न कहो।

मालती—नहीं, अब नहीं कहूँगी। न जाने तुम उससे मेरे विषय में क्या समझो।

पहरे०—नही! नही! कहो, कहने में क्या हर्ज है ? मैं तो तुम्हारा दास हूँ।

मालती—मेरा जी होता है कि अपने पापी पति का मुँह काला करके तुम्हारे साथ रहने लगूं।

इतना कहकर मालती ने फिर एक कटाक्षपात किया। पहरेदार आल्हाद से उछल पड़ा।

पहरे०—रहोगी ?

मालती—रक्खोगे, तो रहूँगी।

पहरे०—तुम्हें रक्खूंगा नहीं! किन्तु प्यारी! तुम्हारा दास हो रहूँगा।

"इस अपूर्व प्रेम का तुम्हें क्या पारितोषिक दूं ? अच्छा, यही

ग्रहण करो।" यह कहकर मालती ने अपने गले का एक सुवर्णहार उतारकर पहरेदार के गले में पहना दिया। उस समय ठाकुर साहब सशरीर स्वर्ग में जा पहुँचे। मालती बोली-शास्त्र में कहा है कि "अपने गले की माला दूसरे के गले में डालना विवाह कहलाता है।"

पहरेदार ने हँसते-हँसते कहा-"तब तो तुम्हारे साथ मेरा विवाह हो गया।"

"इसमें अब सन्देह ही क्या रहा ?" यह कहकर मालती कुछ देर तक निस्तब्ध सी हो रही, मानो किसी गहन चिन्ता में मग्न है। पहरेदार बोला-क्या सोच रही हो ?

मालती—जान पड़ता है, मेरे ललाट में सुख नहीं लिखा है। मैंने अच्छा नहीं किया, मेरे लिये तुम अपने बाल बच्चों को नहीं छोड़ सकोगे और यहाँ तुम्हारे साथ रहकर मुझे सुख नहीं मिल सकता।

पहरेदार ने गर्व के साथ कहा--क्यों क्या अड़चन है ? हमारे सुख में कौन बाधा डाल सकता है ?

मालती—बाधा डालने वाला वही जले मुंह का मेरा पति है। वह बड़ा विकट है। यदि सुन पावेगा, तो हम दोनों को रसातल में पहुँचाये बिना न रहेगा। उसका नाम याद कर मुझे तो कपकपी छूटती है। इसके सिवाय सबेरे मुझे राजकुमार के समक्ष भी तो तुम्हें पेश करना पड़ेगा। उस समय क्या करोगे ? स्त्रियों के लिये उनकी जैसी कुछ नियत रहती है, सो तो तुम जानते ही हो।

पहरे०—सो तो कुछ बात नहीं है। (मूंछ पर हाथ फेरते हुए) मेरे जीते जी वह तुम्हारा मनहूस पति कुछ नहीं बिगाड़ सकता। और राजकुमार की भी मजाल नहीं है कि तुम्हारी ओर नजर उठाकर देख सके। बहुत करेगा, अपनी नौकरी छीन लेगा।

मालती—सो तो मुझे भी तुम्हारे बल पौरुष का भरोसा है। परन्तु आखिर विडम्बना ही रही। जिस स्वातन्त्र्य सुख के लिये मैं तरसती थी, वह तो नहीं मिला।

पहरे०—(बहुत देर तक सोचकर) तब क्या करना चाहिये ?

मालती—(उदास होकर) कुछ नहीं। मेरे पीछे तुम कष्ट में क्यों पड़ते हो। मेरा जो कुछ होगा, होता रहेगा। समझ लूंगी, मेरे भाग्य में सुख लिखा नही है। (आँखो में आँसू भरकर) हाथ जोड़ती हूँ। अब तुम इस विषय को छोड़ दो अपना काम करो। अभी जो बातें हुई है, उन्हे भूल जाओ।

उस समय मालती ने ऐसी विलक्षण मुद्रा बनाई और इतना शोक का उद्रेक दिखलाया कि ठाकुर साहब का जी मोम हो गया।

पहरे०—(हाथ पकड़कर) प्यारी! ऐसी बात मत करो। तुम्हें अब मैं कभी नहीं छोड़ सकता। जैसा तुम कहो, मै वैसा करने के लिये राजी हूँ। तुम्हारी आज्ञा हो तो, मै अभी साथ चलने को तैयार हूँ। तुम्हारा शोक मुझसे देखा नही जाता। तुम्हारे लिये मैं सब कुछ कर सकता हूँ।

यह सुनकर मालती अपने प्रयत्न को सफलता के मार्ग पर आया समझकर मन ही मन प्रसन्न हुई। परन्तु ऊपर उदासीनता की छाया दिखलाती हुई बोली—नहीं, मुझे तो दृढ़ विश्वास हो चुका है कि विधाता ने मेरे ललाट में सुख नहीं लिखा। क्या आश्चर्य कि मेरे साथ तुम्हे भी दुःख भोगना पड़े, इसलिये तुम इस प्रपंच में मत पड़ो।

इस समय ठाकुर साहब को अपनी पिछली बात पर दृढ़ता दिखाने का जोश चढ़ा। आप खड़े होकर बोले—नहीं, मै निश्चय कर चुका हूँ जहां तुम कहो, अभी चलने के लिये तैयार हूँ। अच्छा, तो तुम यहीं बैठना, मैं घर जाकर रास्ते के खर्च के लिये कुछ रुपये और जरूरी सामान लेकर आता हूँ।

मालती—कटाक्ष संधान कर अजी, मुझे धोखा क्यों देते हो? साफ क्यों नहीं कहते कि ठाकुराइन से मिलने को जाता हूँ।

पहरे०—नहीं! प्यारी। सचमुच अब मैं तुम्हारा दास हो चुका हूँ। इसमें धोखा नहीं है। मैं बहुत जल्दी लौट के आता हूँ।

मालती—मुसकुराकर और तब तक मैं कहीं भाग गई तो? रस्सी से बांधे जाओ न?

पहरे०—खैर, ये हंसी मजाक की बातें फिर करना। अभी काम सिद्ध करने दो।

मालती—लौट के आवोगे, तो सही ?

पहरे०—क्या दो चार दिन में आऊँगा, जो ऐसा कहती हो ? बस गया और आया।

मालती—देखो ! तुम्हें मेरे सिर की कसम है ! कहीं ठकुराइन के प्रेम में न उलझ जाना।

पहरे०—नहीं ! नहीं ! प्यारी ! तुम मुझे इतना अविश्वासी मत समझो।

मालती—अच्छा जाओ, परन्तु यह तो कहो कि मुझे अकेले यहाँ डर नहीं लगेगा ? हाय ! मेरी तो छाती धड़कती है।

पहरे०—नहीं, यहाँ डर किस बात का है ? मुझे देर नहीं लगेगी।

ठाकुर साहब के जी में मालती के विषय में तिलार्द्ध भी संशय नहीं रहा। बच्चा जी ऐसे उल्लू बने कि आगा पीछा सब भूल गये। यह भी नहीं सोचा कि यह वही स्त्री है जिसे मैंने घण्टे भर पहले रस्सी से कसके बांधा था।

पहरेवाले ने पीठ फेरी कि मालती ने अपनी सफलता पर प्रसन्न होते हुए बंगले के भीतर प्रवेश किया। रात आधी से ज्यादा बीत चुकी थी, इसलिये बंगले की प्रायः सम्पूर्ण दासियाँ अचेत होकर खुर्राटे ले रही थीं। आज विशेष निश्चिन्तता से सोने का कारण भी था। सुशीला मालती के पकड़े जाने से बहुत व्याकुल थी। कभी बाहर जाती थी और कभी भीतर आती थी। अभी तक उसकी आँखों में निद्रा का आभास भी नहीं आया था। यद्यपि उसे अपनी प्यारी सखी मालती की बुद्धिमानी का बड़ा भारी विश्वास था, तो भी उसके पकड़े जाने से सचिन्त्य हो गई थी।

जिस दिन से सुशीला के यहाँ मालती का आवागमन प्रारम्भ हुआ है, उसी दिन से उसकी चर्चा में एक विलक्षण प्रकार का परिवर्तन हो गया है। मुखमण्डल पर दीप्ति आ गई है, नेत्र प्रफुल्लित रहते

हैं, शरीर में स्फूर्ति चंचलता दिखलाई देती है। और उदासी विदा ले गई है। यद्यपि वह अपने इस परिवर्तन को छुपाने का बहुत कुछ प्रयत्न करती है, परन्तु उसमें सफल नहीं होती।

समय-समय पर उसके मुखमण्डल पर जो हँसी की रेखा झलक आती है, उससे वहां की दासियाँ इस परिवर्तन का कारण जानने के लिये उत्कण्ठित हो जाती हैं। मालती के पैर की आहट सुनकर सुशीला कमरे से बाहर दौड़ आई और यह पूछने के लिये आतुर हुई कि तुम कैसे छूट आई ? परन्तु इसके पहले ही मालती ने कहा, तो अब देर मत करो। इस समय थोड़ा भी विलम्ब होगा, तो सर्वनाश हो जावेगा।

पहले बंगले भर के दीपकों को बुझा देना चाहिये, पीछे यहाँ से चलना चाहिये। यह कहकर मालती शीघ्रता से दीपनिर्वाण करने लगी। सुशीला ने भी उसे इस कार्य में सहायता दी। जब बंगला सर्वथा अन्धकारमय हो गया, तब दोनों की दोनों उसी फाटक पर से बाहर निकल गईं, जहाँ कि पहले पहरेदार का पहरा था।

फाटक पार करते ही एक युवा ने आकर मालती का हाथ पकड़ लिया और कहा-मालती महाशया ! अब कहां जाती हो ? मैं तुम्हारे साथ भाग चलने के लिये तैयार हूं। तुम्हारी बाट ही देख रहा था। देखो तुम्हारे लिये मैं अपने बाल बच्चे सब छोड़ आया। राहखर्च के लिये जो कुछ रुपयों पैसों की आवश्यकता थी, सो भी ले आया हूँ। युवा के ये वाक्य सुनकर सुशीला कांप उठी कि हाय ! यह क्या विपत्ति आई ? मालती भी चमक उठी, परन्तु तत्काल ही प्रसन्न होकर बोली हां ! हां। चलिये। परन्तु याद रखिये, मालती के लिये मदनमालती छोड़ देनी पड़ेगी। सुनते ही युवा खिलखिला उठा और बोला-वाह ! क्या अच्छा अनुप्रास मिलाया है।

मालती—जान पड़ता है, आप यहां बहुत देर से आये हैं।

युवा—हां ! जिस समय ठाकुर साहब से आपका वार्तालाप प्रारम्भ हुआ था, उसी समय मैं यहां आ गया था। जब आज ११ बज चुके

और आपका आगमन न हुआ तब मुझे चिन्ता हुई और आखिर बात क्या है, यह जानने के लिये मुझे यहां तक आना पड़ा।

मालती—अच्छा, तो अब देरी करने का समय नहीं है। जिस तरह बने रात ही रात यहां से दो तीन कोस निकल चलना है। इस समय डेरे पर जाने की आवश्यकता तो नहीं थी परन्तु मालिन को सचेत कर चलना अच्छा है। इसलिये आप डेरे पर से होकर आ जाइये हम धीरे-धीरे चलते हैं।

उधर थोड़ी देर में मन के लड्डू पागते हुए ठाकुर साहब घर से लौटे। परन्तु फाटक पर आके देखते हैं, तो कोई नहीं है। एक बार पुकारा—"मालती !" यहां वहां देखा, परन्तु कुछ भी उत्तर नहीं मिला और न कोई दिखाई दिया। सोचा, शायद बंगले में चली गई होगी। भीतर जाके देखा, बंगला अन्धकारमय हो रहा है।

वहां भी डरते-डरते पुकारा—"मालती !" परन्तु किसी ने उत्तर नहीं दिया। उस समय ठाकुर साहब का माथा ठनका। समझ आई कि मालती ने धोखा दिया। अब तो वह दासियों का नाम लेकर जोर-जोर से पुकारने लगा जिसे सुनते ही दासियां घबड़ाकर उठ बैठी और चारों ओर अन्धकार का राज्य देखकर कर्तव्यविमूढ़ हो यहां वहां दौड़ने लगी।

एक दासी ने सुशीला के कमरे में जाकर आतुरता से पुकारा—"सुशीला ! सुशीला !" परन्तु वहां कौन था, जो उत्तर देता। बस सबकी सब दासियां रोने चिल्लाने लगी कि हाय ! सुशीला भाग गई। सुशीला को कोई ले गया। दौड़ो ! दौड़ो !

यह सुनते ही ठाकुर साहब के रहे सहे प्राण और भी सूख गये।

इसी समय रेवती और बलदेवसिंह साधुओं के वेष में सुशीला को छुड़ाने के लिये आकर, चकित स्तंभित हो गये थे।

———

बीसवाँ पर्व

भूपसिंह सुवर्णपुर छोड़कर अपने प्राणप्रिय मित्र जयदेव का पता लगाता हुआ गांव-गांव नगर-नगर घूम रहा था कि अचानक एक दिन एक ग्राम में उसे साधु के वेष में फिरते हुए, जयदेव से मिलाप हो गया। जयदेव को कंचनपुर छोड़े हुए उस समय अधिक दिन नहीं हुए थे परन्तु भूपसिंह को महीनों बीत गये थे।

उस समय एकाएक मिलाप होने से दोनों मित्रों को जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह अकथनीय है। कलम में इतनी शक्ति नहीं है कि वह बांचने वालों को उसका अनुभव करा सके। उस संयोग सुख का अनुमान वही कर सकते हैं, जो कभी अपने सच्चे मित्र से बिछुड़कर मिले हैं।

जयदेव भूपसिंह की मित्रता का वर्णन बहुत कुछ किया जा चुका है। इसलिये हम यहां इस विषय को फिर से पल्लवित नहीं करना चाहते क्योंकि शायद ऐसा करने से हमें कथा का परिणाम जानने की उत्कंठा वाले पाठकों की अप्रसन्नता का भाजन बनना पड़े।

दोनों मित्र सुशीला का पता लगाने के लिये चले। दोनों की यही सम्मति हुई कि पहले सूर्यपुर में जाकर शोध करना चाहिये। क्योंकि उदयसिंह की ओर से उन दोनों को ही शंका थी। यदि वहां पता न चलेगा तो फिर कोई दूसरा प्रयत्न करेंगे। सूर्यपुर पहुँचकर वे दोनों एक मालिन के घर जाकर ठहरे। मालिन बड़ी ही चतुरा और चालाक थी। वह सूर्यपुर के राजमहल में निरन्तर आया जाया करती थी। और वहीं से जो कुछ प्राप्ति होती थी, उसी के द्वारा अपना उदर-निर्वाह करती थी।

जिस समय उदयसिंह सुशीला को लाया था, अन्तःपुर में इस बात की चर्चा चली थी और वह मालिन को स्मरण थी। भूपसिंह ने बातों ही बातों में उससे इस बात का पता लगा लिया कि राजकुमार ने कई महीने हुए उद्यान वाले बंगले में कहीं से एक सुन्दर स्त्री लाके रक्खी है।

इसके पश्चात् भूपसिंह ने मालिन को पारितोषिकादि देकर धीरे-धीरे अपने हाथ में कर ली और उसे यह निश्चय करा दिया कि मैं विजयपुर का राजकुमार हूँ। जिस समय भूपसिंह ने उदयसिंह और निहालसिंह को लड़ाई में कैद किया था, उस समय मालिन ने भूपसिंह का नाम सुना था। इस समय उसी शूरवीर भूपसिंह को अपना पाहुना जानकर वह बहुत प्रसन्न हुई और उसे वह बहुत आदर की दृष्टि से देखने लगी। भूपसिंह को भी उसके द्वारा अपने कार्य के सिद्ध होने की आशा होने लगी।

भूपसिंह ने जब यह विश्वास कर लिया कि मालिन अपनी सर्वथा आज्ञाकारिणी दासी बन गई है, तब एक दिन उससे कहा—यदि तुम हमारे मित्र को उस स्त्री के साथ जिसे कि राजकुमार ने अपने बङ्गले में लाके रक्खा है, साक्षात् करा दो, तो तुम्हें बहुत सा पारितोषिक दिया जावेगा।

मालिन पहले तो डरी, परन्तु पीछे भूपसिंह के आश्वासन से राजी हो गई। उसने कहा—साक्षात् तो करा दूंगी परन्तु आप में से किसी एक को मेरे साथ स्त्री का रूप बनाकर चलना होगा।

यह सुनकर भूपसिंह ने जयदेव की ओर देखा और संकेत मात्र से अपनी इच्छा प्रगट की कि आपका जाना अच्छा होगा। जयदेव पहले तो स्त्री वेष बनाने के लिये संकुचित हुए। परन्तु पीछे राजनीति के चार समुद्देश का स्मरण होने से और भूपसिंह के आग्रह से उन्हें तैयार होना पड़ा। मालिन बड़ी ही चतुरा थी। उसने अपनी रुचि के अनुसार जयदेव को ऐसा सजधज के तैयार कर दिया कि उसे स्वयं भ्रम होने लगा कि यह स्त्री है, अथवा स्त्री रूप पुरुष।

यहां हम पाठकों की यह शंका भी दूर कर देना चाहते हैं कि जयदेव भूपसिंह जैसे वीर पुरुषों को यह स्वांग रचने की क्या आवश्यकता थी ?

यथार्थ में सुशीला को संकट मुक्त करने का कार्य बड़ा ही जोखिम का काम था। यदि उसमें जरा भी बल से काम लिया जाता तो

उसके प्राणों पर आ बनने का डर था। इसके सिवाय राजा निहाल-सिंह इस षड्यन्त्र से सर्वथा अलिप्त और अनजान थे। उन्हें व्यर्थ ही सताना अनुचित था। यदि ऐसा न होता तो भूपसिंह जयदेव के आने के पहले ही राजा विक्रमसिंह तथा रणवीरसिंह सूर्यपुर जैसे कई राज्यों को नष्ट करके सुशीला को छुड़ा ले जाते, और जासूसादि भेजने की विडम्बना में न पड़ते।

पाठकों को स्मरण होगा कि राजा विक्रमसिंह ने बल प्रयोग करने का विचार किया भी था, परन्तु इन्हीं कारणों से उनके शूरसेन मन्त्री ने उन्हें रोक दिया था।

रात को अनुमान ग्यारह बजे मालिन ने मालती को साथ लेकर और अनेक उपयोगी बातें समझाकर उद्यान की ओर प्रस्थान किया। उस समय नगर में धीरे-धीरे नीरवता तथा निश्चेष्टता का साम्राज्य जम रहा था। लोगों के आवागमन के बिना मार्ग शून्य हो रहे थे।

बंगले के द्वार पर पहुँचते ही मालिन ने पहरेदार से हँसते हुए कहा-अच्छा! आजकल आप हैं यहाँ? खैर मुझे तो बड़ी चिन्ता हो रही थी कि न जाने पहरे पर कौन उज्जड होगा? और मुझे भीतर जाने देगा या नहीं?

ठाकुर साहब! आप तो पुराने नौकर हैं, इसलिये मुझे पहिचानते हैं कि राजमहल में मेरी कैसी कदर रही है। परन्तु आजकल तो ऐसे नालायक भरती हुए हैं कि किसी को कुछ समझते ही नहीं है। अच्छा हुआ, जो आप मिल गये, नहीं तो यह बेचारी बंगला न देख पाती। ले बेटी, चली जा, मैं सीधी राजमहल को जाती हूँ। न जाने क्यों इतनी रात को महाराणी ने याद किया है। वहाँ से लौटकर तुझे लेती जाऊँगी, नहीं तो यहीं चम्पा के अथवा और किसी के पास सो जाना। ठाकुर साहब! यह मेरी बहन की लड़की है। बेचारी देहात की रहने वाली है।

इसने काहे को कभी ऐसे बङ्गले देखे होंगे। कल या परसो चली जावेगी। अच्छा है, आज देख लेगी। और रहेगी, तो एकाध बार और

देख जावेगी। इतना कहकर मालिन ने एक रुपया निकाल कर पहरे-वाले के हाथ पर रख दिया और उत्तर की प्रतीक्षा न करके वहाँ से चल दी।

मालती छमाके मारती हुई फाटक लांघकर बंगले में जा पहुँची। ठाकुर साहब मालिन की बातों में ऐसे उल्लू बने कि कुछ भी न कह सके और उसने भी ऐसी चालाकी से बातचीत की कि बोलने का मौका ही न आने दिया। ठाकुर साहब शायद पीछे कुछ कहने का साहस करते, परन्तु तबतक वह एक चांदी की जूती लगाकर चल ही दी। बेचारे रुपये को जेब में रखकर कठपुतली की नाईं खडे रहे।

नगर के बाह्य प्रदेशों में होने से बंगले में एक तो यों ही सूना-सूना मालूम पड़ता है। दूसरे कई दिन से उस ओर उदयसिंह का आगमन नहीं होता है इसलिये दास दासियों की चहल-पहल भी जरा कम रहती है। मालती ने जाकर देखा, दासियाँ चैन से खुर्राटे लगा रही हैं। सबकी सब अचेत हैं। बीच के विशाल कमरे के एक कोने में एक चटाई पर हाथ का सिराहना लगाये हुए सुशीला लेटी है। आँखों में निद्रा की छाया नहीं है तो भी वे मुद्रित हैं।

शरीर पर एक मलिन धोती, मस्तक पर सौभाग्यतिलक और हाथों में चूडियों के सिवाय और कुछ शृंगार नहीं है। वियोग के दुःसह ताप से उसके सम्पूर्ण अँगोपांग झुलस गये हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो संयोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये उसने विभूतिभूषित शरीर से तपस्या करने का उपक्रम किया है।

मुख की कान्ति क्षीण होकर उदासीनता में परिणत हो रही है। कपोलमण्डल पर धवलिमा छा रही है। आँखों में बही हुई अश्रु-धाराओं की शुष्क रेखायें कंठपर्यन्त दिखाई देती हैं - भ्रमरराशि के समान श्याम सच्चिकण केश योगियों की जटाओं के समान रूक्ष होकर बिखर रहे हैं। सारांश यह कि सुशीला का मनोहर शरीर विरहवेदना के कारण सर्वथा परिवर्तित हो गया है।

मालतीरूपधारी जयदेव पहले तो यह सन्देह करके कि यह

सुशीला नहीं है, द्वार पर ठिठक रहे। परन्तु किंचित् बारीकी से देखने पर जब उन्हें विश्वास हो गया कि यही मेरी प्रियतमा है, तब भी वे समीप जाने को अग्रसर न हो सके। जहां खड़े थे वहीं स्तम्भित हो रहे। कंठ रुद्ध हो गया मस्तक पर पसीना आ गया, जी उमड़ आया, हर्ष शाक और करुणा का एक अपूर्व सम्मिलन हुआ, हृदय सब प्रकार के विचारों से शून्य होकर जड़ीभूत हो गया। कुछ क्षण के पश्चात् हवा के एक झोंके से उस कमरे की खिड़कियां बन्द हो गईं। और उनकी आहट पाकर सुशीला ने नेत्र खोल दिये। उनमें निद्रा का नाम नहीं था। अपने समीप एक अपरिचित स्त्री को खड़ी देखकर उसने पूछा, क्यों खड़ी हो ?

जयदेव अवाक् हो रहे। बहुत विचार किया, परन्तु कंठ से एक अक्षर भी नहीं निकला। उत्तर न पाकर सुशीला ने फिर पूछा, क्यों बोलती क्यों नहीं हो ? कहो, उस पापात्मा का सन्देशा हो, तो वह भी कहो ! मैं दया की पात्रा नहीं हूँ। तुम कौन हो, जो मेरे लिये इस तरह संकोच कर रही हो ! मैं मरी तो क्या, और जीती रही तो क्या !

यदि तुम मेरे मारने की आज्ञा लाई हो, तो मैं उससे बहुत प्रसन्न होऊँगी। मैं कल ही से उसकी बाट देख रही हूँ। उस दिन वह दुरात्मा ३ दिन की अवधि देकर गया था, परन्तु आज ४-५ दिन हो गये।

जयदेव ने बड़ी कठिनाई से बड़ी दृढ़ता से अपने मनको वश में करके और आगामी कर्तव्य का निश्चय करके कहा- मैं तुम्हारे पति का सन्देशा लाई हूँ।

सुशीला मुझे क्यों व्यर्थ कष्ट देती हो ! ऐसे सन्देश देने वाली तो मेरे पास प्रतिदिन ही आया करती हैं। यह कहो कि सन्देशा का कुछ प्रमाण भी तुम्हारे पास है या नहीं ?

जयदेव—हाँ ! देखो यह मुद्रिका किसकी है ?

मुद्रिका का नाम सुनते ही सुशीला बिछौने से उठ बैठी और

उसे हाथ में लेकर बड़े गौर से देखने लगी। यह मुद्रिका सुशीला ने प्रथम समागम के समय अपने पति को प्रेमोपहार स्वरूप समर्पण की थी उस पर सुशीला का द्वितीय नाम "सरस्वती" खुदा हुआ था। मुद्रिका पहिचान लेने के पश्चात् सुशीला ने उस स्त्री के मुंह की ओर खूब वारीकी से देखा और जो मैं यह कहते हुए कि इस रूप को तो कभी देखा है पूछा--तुम और भी कोई ऐसा प्रमाण दे सकती हो जिससे मुझे तुम्हारे विषय में कुछ भी सन्देह न रहे !

मालती--हाँ जितने कहिये, उतने प्रमाण दे सकती हूँ। यह देखो मैं तुम्हारे नाम की चिट्ठी भी लाई हूँ। ऐसा कहकर मालती ने एक बटुये में से चिट्ठी निकाल कर दे दी। सुशीला ने उसे खोलकर बांचा। ठीक जयदेव के अक्षरों से मिलते हुए अक्षर थे। उसमें लिखा हुआ था--

प्रिये ! जिस स्त्री के साथ यह पत्र भेजता हूँ यह वड़ी विश्वास-पात्रा है। दुःख के दिन समाप्त होंगे। प्रयत्न कर रहा हूँ। प्रिय भूप-सिंह भी मेरे साथ हैं, धैर्य्य रखना। तुम्हारे दर्शन के लिये व्याकुलता बढ रही है इस समय इतना ही ··· ······ तुम्हारा जयदेव

इस चिट्ठी को पढ़कर सुशीला के हृदय की जो दशा हुई होगी उसका पाठक अनुमान कर सकते हैं। एक ओर चिरवियोग के अन्त होने का सीमाधिक हर्ष दूसरी ओर एक नगर में रहते हुए भी जीवन सर्वस्व के अदर्शन का शोक; एक ओर संदेशा भेजने की कृतज्ञता दूसरी ओर स्वयं दर्शन न देने का स्नेहरंजित ईषत्कोप; एक ओर चिर रोधित-शोकाश्रुओं का प्रवाह, दूसरी ओर संकटमुक्त होने के पश्चात् का भावी आनन्द भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों के चित्र उसके हृदय पर एक के पीछे एक खिचने लगे।

चिट्ठी पढ़कर एक बार मालती की ओर देखा, फिर चिट्ठी को पढ़ा, फिर देखा और फिर पढ़ा। इस प्रकार कई बार देखा कई वार पढ़ा। चिट्ठी के पढ़ने से सुशीला की मुद्रा में क्या-क्या फेरफार होता है मालती का इस ओर सविशेष ध्यान था। उस समय वह अपने हृदय

पर जो शासन कर रही थी वह बड़े ही साहस, धैर्य और जितेन्द्रियता का कार्य था।

परन्तु अपने अभिन्न शरीर को-अपने अर्धांग को इस प्रकार से कौन कब तक पृथक् रख सकता है! जयदेव को (अब मालती कहना छोड़ दीजिये) धैर्य्यस्तम्भ खिसकने लगा।

सुशीला को चकित विस्मित दृष्टि से अपनी ओर बारंबार निहारते देखकर उसने कहा—क्या अभी तक आपकी शङ्का दूर नहीं हुई।

सुशीला—नहीं, शङ्का तो अब नहीं रही। किन्तु ऐसा जान पड़ता कि तुम्हें मैंने कभी देखा है, परन्तु स्मरण नहीं आता। अस्तु इस बात को जाने दो और यह कहो कि तुम्हारा डेरा यहाँ से कितनी दूर है?

जयदेव—इसके पूछने से आपका अभिप्राय क्या है?

सुशीला ने एक दीर्घनिःश्वास खींचकर उत्तर दिया यों ही पूछती हूँ।

जयदेव-नहीं, ठीक कहिये यदि इच्छा हो, तो मैं उनसे इसी समय मिला सकती हूँ। सुशीला का मुखकमल खिल उठा। उसने बड़ी उत्कंठा से पूछा—क्या ऐसा हो सकता है?

जयदेव—हाँ, यदि मैं चाहूँ तो सब कुछ हो सकता है।

सुशीला-(विनम्र होकर) तो कृपा करके मुझे उनके पास ले चलो।

जयदेव—उन्हें ही यहाँ न ले आऊँ।

सुशीला—वे क्या यहाँ आ सकते हैं?

जयदेव—क्यों नहीं।

सुशीला—तो बुला दो।

जयदेव—कितनी जल्दी बुलाऊँ।

सुशीला—जितनी जल्दी हो सके।

जयदेव—मुझे क्या दोगी?

सुशीला—जो तुम मांगोगी।

जयदेव—देखो, भूलना नहीं।

सुशीला—नहीं। खूब स्मरण है।

जयदेव—तो, लो ये आ गये।

सुशीला—रोमांचित होकर यहाँ वहाँ बड़ी व्याकुलता से देखने लगी। परन्तु जब कोई नहीं है, तब दीन कातर होकर मालती के मुँह की ओर देखने लगी और बोली, कहाँ हैं? जयदेव उस समय बड़ी कठिनता से चित्त को वश में किये हुए मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा—तुम्हारे समक्ष ही तो हैं।

सुशीला ने मालती की ओर लालायित लोचनों से देखा। बस, मालती जयदेव का चित्त उस अपूर्व दृष्टिपात से धैर्यच्युत् हो गया। उसी समय उसने सुशीला को अपने बाहू पाश में बद्ध करके मुख-चुम्बन करते हुए कम्पित स्खलित स्वर से कहा-यह देखो, मैं उपस्थित हूँ। मैं ही तुम्हारा अभागा पति हूँ।

सुशीला का कोमल हृदय एकाएक उस अचिन्त्य हर्ष की चोट को नही सम्भाल सका। इसलिये उसी पाशवद्ध अवस्था में वह चेतना-विहीन हो गई। जयदेव भी अपने शरीर को अधिक समय तक नही सम्भाल सके। दोनों एक दूसरे की ओर अनिमिष नेत्रों से देखने लगे। स्नेह की अविरल अश्रु धारा बहने लगी। दोनों आक्रन्दन करने लगे। पाठक! बतलाइये, संयोग सुख में यह रोना और आँसू बहाना क्यों होता है?

× × ×

मालती रूपधारी जयदेव उस दिन रात भर सुशीला के पास रहे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह रात दोनों की व्यथा वार्ताओं में, पारस्परिक उलाहनों में और कष्टमुक्त होने के विचारों में ही व्यतीत हो गई। प्रातःकाल होने के पहले जयदेव बड़े कष्ट से विदा लेकर अपने डेरे पर चले गये। उस समय तक बंगले की दासियाँ चैन से नींद ले रही थीं। पहरे वाले ठाकुर साहब प्रातःकाल को ठण्डी

हवा के झोंके में फाटक पर बैठे हुए नींद में आगे को झुके जा रहे थे।

दूसरे दिन रात के ठीक बारह बजे श्रीमती मालतीजी फिर बंगले के फाटक पर आ पहुँची और ठाकुरसाहब को एक चिदानन्द तथा एक तिरछे कटाक्ष का दान करती और कमर को बल देती हुई अपने अभीष्ट स्थान पर चली गई। तीसरे दिन भी उन्होंने ऐसा ही किया। परन्तु आज एक दासी ने जिसका नाम चम्पा था, मालती को आते हुए देख लिया।

उस समय वह लेटी हुई थी, परन्तु उसे निद्रा नहीं आई थी। एक अपरिचित स्त्री को आते हुए देखकर उसे सन्देह हुआ और इसलिये वह धीरे से उठकर कमरे की एक खिड़की के पास ओट में खड़ी हो गई। वहाँ से सुशीला और जयदेव की बातें अस्पष्ट रीति से सुनने में आती थीं।

उस समय वे दोनों वहाँ से निकल चलने की बातचीत कर रहे थे। उससे चम्पा यह तो नहीं समझ सकी कि यह कोई पुरुष है, परन्तु इस विषय में उसे कुछ भी सन्देह नहीं रहा कि यह कोई धूर्ता स्त्री उसे छुड़ाने के लिये आई है। बस, उसी समय उसने एक कोठरी में जाकर एक कागज पर कुछ लिखा और एक दासी को जगाकर उसके हाथ में देकर कहा—इसी समय राजकुमार के पास ले जाकर इस पुरजे का जवाब लाओ। दासी तत्काल ही उदयसिंह के पास गई।

उदयसिंह उस समय अपने मित्र के साथ फूटे मन्दिर में जाने को तैयार था, क्योंकि उस दिन रविवार था। पुरजे को बांचकर उसने मुँह जबानी कह दिया कि अच्छा कुछ डर नहीं है। उसको मुश्कें बाँधकर कैद कर लो और पहरेदार की निगरानी में छोड़ दो। मैं प्रातःकाल आकर उसका निपटारा कर दूँगा।

दासी ने लौटकर यह समाचार चम्पा को आके सुना दिया। तदनुसार दासियों ने मिलकर मालती को पकड़ कर कैद कर लिया

और ठाकुर साहब के हवाले कर दिया। मालती ने उस समय जरा भी बल से काम नही लिया। उसने बड़ी सरलता से अपनी मुश्कें बांध लेने दीं। सुशीला अवश्य ही घबड़ा गई, परन्तु पीछे मालती के सांकेतिक आश्वासन से उसे बहुत कुछ ढाढस बन्ध गया।

इसके पीछे क्या हुआ, सो पहले कहा जा चुका है।

इक्कीसवाँ पर्व

जब से एक राह चलते पथिक से जयदेव, भूपसिह और सुशीला के विजयपुर को लौट आने का समाचार नगरवासियों ने सुने हैं, तब से विजयपुर में आनन्द की लहरें उच्छलित हो रही हैं। प्रत्येक बालक के, प्रत्येक युवा के, प्रत्येक वृद्ध के, प्रत्येक भिक्षुक के, प्रत्येक धनिक के, जिसका मुँह देखा उसी के मुँह पर आज मूर्तिमान आनन्द विराजमान है।

प्रत्येक वीथी में, प्रत्येक मार्ग में. प्रत्येक घर में, प्रत्येक महल में, प्रत्येक उद्यान में, प्रत्येक सरोवर में, जहाँ देखो वहाँ आनन्द की मनोहारिणी प्रभा प्रभास्फुट हो रही है। राजमार्ग ध्वजा पताओं से सुसज्जित हो रहे है। .महलों के द्वार मणिमुक्तावेष्टित बधनवारों से और साधारण स्थिति के गृहस्थों के द्वार पत्रपुष्प बंधनवारों से सजाये गये हैं। मन्दिरों के द्वारों पर मधुर वाद्यध्वनि हो रही है। नृत्य गायन हो रहे हैं। सजे हुए पुरुषों के झुंड के झुंड आनन्द कलरव करते हुए इधर उधर आते जाते दिखाई देते हैं।

मकानों की छतों पर बैठी हुई स्त्रियां मङ्गल गीत गा रही हैं। जगह-जगह सदावर्त खुल रहे है। आहार वस्त्रादि जिसे जो कुछ चाहिये, वह मिलता है। देव मन्दिरों में पूजन हवनादि पुण्य कर्म हो रहे हैं। सारांश यह कि आज विजयपुर साक्षात् स्वर्ग बन रहा है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह आनन्द कोलाहल विजयपुर

की गई हुई शोभा के, गई हुई विद्या के, गई हुई वीरता के, किंबहुना गये हुए प्राणों के लौट आने से हो रहा है। आज विजयपुर और विलासपुर के जीवन सर्वस्व जयदेव, भूपसिंह और सरस्वती के आने के समाचार जहां तहां सुनाई पड़ते हैं। विचारशील हृदय लोग कह रहे हैं, आज उजड़ा हुआ बिजयपुर फिर बस गया। विजयपुर की अनाथ प्रजा सनाथ हो गई। विद्वानों के ग्राहक, वीरों के चाहक और अनाथों के नाथ आ गये। महाराजा रणधीरसिंह और विक्रमसिंह के शुष्क तनपिंजर में उनकी कीर्तिका यशःपाठ करने वाले विहङ्ग फिर से आ गये।

रात दिन प्यास प्यास रटने वाले पपीहों की करुण ध्वनि सुनकर मेघों को दया आ गई। भीषण ग्रीष्म संतप्त भूमि फिर हरी भरी हो गई। शोकाकुलित अयोध्या रामचन्द्र, जानकी और लक्ष्मण के प्रत्यागमन से हर्षोत्फुल्ल हो गई।

राजमार्ग पर से एक बड़ा भारी जनसमूह उत्तर की ओर उमड़ा जा रहा है। शंख, घंटा, तुरही, भेरी, दुंदुभी आदि नाना प्रकार के बाजों का अपार नाद हो रहा है। हाथी, घोड़ों और रथ, पालकियों के मारे मार्ग चलना कठिन दिखता है। बन्दीजन विरद गायन करते जाते हैं। आगे आगे प्रधान मन्त्री आदि राज्य कर्मचारी और नगर के धनिक जा रहे हैं।

थोड़ी देर में यह महासमुद्र अपने रंगविरंगे वस्त्रों की लहरों से लहराता हुआ, कोलाहल स्वरूप शब्द करता हुआ उस उद्यान के समीप पहुँचा, जहाँ जयदेव भूपसिंह और सुशीला के ठहरने की खबर सुनी थी।

यह उद्यान विजयपुर से अनुमान २ मील उत्तर की ओर है। देखने में उद्यान छोटा है परन्तु बड़ा ही मनोहर है। विजयपुर के सैकड़ों विनोदप्रिय जीव यहाँ जी बहलाने को आया करते हैं। उद्यान के बीच में एक छोटा सा सरोवर है, जिसके चारों ओर सीढ़ियां बंधा

हुआ पक्का घाट है । एक ओर एक छोटी दालान है । वर्षा के दिनों में प्रायः लोग उसी में बैठकर विश्राम पाते हैं ।

उसी दालान में इस समय एक बड़ा ही मनोवेधक करुणापूर्ण दृश्य उपस्थित है । महाराज रणधीरसिंह भूपसिंह को छाती से लगाये हुए अचेत हैं, भूपसिंह अचेत हैं, श्रीचन्द अचेत हैं, विद्यादेवी अचेत हैं, दोनों के चरणों में लिपटा हुआ जयदेव अचेत है, विनयचन्द्र अचेत है, विक्रमसिंह अचेत है और उनकी गोद में सिर रक्खे सुशीला अचेत है ।

दूसरी ओर उद्यान के वृक्ष, बल्लरी, पुष्पमञ्जरी अचेत हैं, सरोवर का निर्मल जल स्थिर अचेत है, हजारों दर्शक जो उस स्थान को घेरे हुए हैं, सब के सब कठपुतलियों के समान नीरव निस्तब्ध तथा अचेत है । जहाँ देखो, तहाँ अचेतन का साम्राज्य है ।

थोड़ी देर में इस गम्भीर शान्ति का भंग हुआ। शीतल जल सेवन से उन सबकी मूर्छा दूर हुई । साथ ही आक्रन्दन शुरू हो गया । विचित्र रोदन ! किसी को विराम नही है ।

रणवीरसिंह रोदन करते हैं विक्रमसिंह अश्रुधारा से पृथ्वी परिप्लुत कर रहे हैं । जयदेव की हिचकी बँध गई है, भूपसिंह कातर हो उठे हैं, श्रीचन्द आक्रन्दन करते है, विद्यादेवी नीरव होकर आँसू बहाती है, सुशीला रोती है, दर्शकगणों की भी यही दशा है। किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकलता है । सबके सब मौन धारण किये हुए हैं । अपूर्व मूकाभिनय है । विलक्षण दृश्य है । विचित्र शोभा है। इस सुख के समय, इस शुभ सम्मिलन के समय रोदन का इतना कोलाहल क्यों ? क्या कोई इसका उत्तर दे सकता है ?

सुशीला विद्यादेवी के चरण पकड़े हुए है, रणवीर भूपसिंह को छाती से लगाये हुए है, श्रीचन्द जयदेव का आलिंगन कर रहे हैं पर आक्रन्दन कम नहीं होता। वियोग समय में संचित हुआ शोकवारि इस शुभ समय को पाकर हृदय सरोवर के किनारे तोड़कर नयन प्रणालियों से प्रबल बेग द्वारा बह रहा है। परन्तु क्या इस रोदन को

शोक कह सकते हैं ? नहीं ! रोदन ही सुख है । चिर वियोग के पश्चात् शुभ सम्मिलन के समय रोदन ही सुख है । इस शुभ सम्मिलन का रोदन पृथ्वी का नहीं है, स्वर्ग का है । यह आक्रन्दन लवणाक्त अश्रुधारा नहीं, किन्तु पवित्र प्रेम-रस की स्वर्गीय सुधाधारा है । इस प्रेम गङ्गा के जल में जिन्होंने कभी अवगाहन किया है, वे धन्य है ।

कुछ समय के पश्चात् आक्रन्दन कम हुआ । जयदेव ने महाराज रणवीरसिंह को और विक्रमसिंह को नमस्कार किया । भूपसिंह ने श्रीचन्द्र को तथा विलासपुर नरेश को नमस्कार किया और सुशीला ने तीनों को प्रणाम किया । सबने यथायोग्य आशीर्वाद दिया । साथ ही बन्दीजनों ने उच्च कण्ठ से गाया ।

"जियै यह रामलखन की जोरी सङ्ग में सीता वयस किशोरी ।"

इसके पश्चात् मन्त्री आदि सब लोग आ गये । भूपसिंह और जयदेव सबसे योग्यतानुसार मिले और किसी को कुशल प्रश्न से, किसी को मिष्ठ भाषण से, किसी को मन्दमुसक्यान से तथा किसी को दृष्टि-निक्षेप मात्र से ही प्रसन्न करते हुए विजयपुर की ओर चलने लगे । पीछे-पीछे वह विस्तृत जन-सागर लहराता तथा आनन्द कलरव करता हुआ चला । मन्त्री आदि ने बहुत कुछ कहा कि आप लोग हाथियों पर, घोड़ों पर अथवा रथ पर जावें, परन्तु ऐसा करने के लिये वे राजी न हुए और पैदल ही चलने में प्रसन्न हुए ।

उस समय रणवीरसिंह, विक्रमसिंह तथा श्रीचन्द्र की हर्ष के मारे कुछ विलक्षण ही दशा हो गई थी । उस समय वे अपने आपको विस्मृत थे । पगड़ी थी, तो जूते नहीं थे । दुपट्टा था, तो पगड़ी नहीं थी । दूसरे आभूषणों को तो पूछता ही कौन है ? कभी सबके आगे चलने लगते थे, कभी सबसे पीछे हो जाते थे । कभी जयदेव को भूपसिंह कहते थे, और कभी भूपसिंह को जयदेव ।

थोड़ी देर में नगर प्रवेश हुआ । छज्जों पर बैठी हुई कुलवधुओं ने भूपसिंह-जयदेव-सुशीला पर पीत अक्षतों और मांगलिक पुष्पों को

बालिकाओं ने हंसकर, मुग्धाओं ने मुसक्याकर प्रौढ़ाओं ने हर्ष के आंसू डालकर और वृद्धाओं ने आशीर्वाद देकर उन तीनों महाभाग्यों का सत्कार किया।

राजमहल के द्वार पर अनेक सौभाग्यवती स्त्रियाँ जलपूर्ण घट लिये हुए जिन पर कि घृत के दीपक जल रहे हैं, खड़ी हैं और परमाल्हाद के करने वाले मंगलगीत गा रही है।

वहां पहुंचते ही भूपसिंह, जयदेव तथा सुशीला की मङ्गल आरती उतारी गई। इसके पश्चात् और भी जो राजकीय रीतियाँ थीं, उनकी पूर्ति की गई। राज्य के सम्पूर्ण सेवकों को तथा बन्दीजनों को भरपूर पारितोषिक बांटा गया। ब्राह्मणों को, विद्वानों को इच्छित दक्षिणा दी गई। उसी समय एक दरबार किया गया और सम्पूर्ण आगत पुरुषों का ताम्बूलादि से सत्कार करके हर्ष प्रकाशित किया गया।

उस दिन महाराज रणधीरसिंह तथा विक्रमसिंह ने जयदेव तथा सुशीला को राजमहल में ही रक्खा। श्रीचन्द्र, विद्यादेवी तथा विनयचन्द्र भी वहीं रहे। वह दिन बड़े ही आनन्द से व्यतीत हुआ। सारा नगर सुखसागर में आन्दोलित होता रहा।

दूसरे दिन श्रीचन्द्रजी, जयदेव व सुशीला को अपने घर लिवा ले गये। उस दिन जौहरी श्रीचन्द्र ने भी अपनी शक्ति भर उत्सव करने में कोई कसर नहीं रक्खी।

परिशिष्ट

जयदेव भूपसिंहादि की दुःख रजनी समाप्त हो गई। सौख्य सूर्य का सुहावना उदय हो गया। विजयपुर राज्य की पंकज प्रजा उस अपूर्ण प्रकाश से प्रफुल्लित हो गई। इधर विलासपुर भी उसी दिन सुशीलादि के आगमन-समाचार सुनकर उत्सवमय बन गया।

जयदेव की सम्मति से महाराजा रणवीरसिंह ने सुवर्णपुर नरेश के समीप अपने एक मन्त्री को यह समाचार लेकर भेजा कि भूपसिंह

मेरे पुत्र हैं। वे प्रसन्नता से विजयपुर आ पहुँचे हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करें। यह समाचार फैलते ही सुवर्णपुर भी हर्षोल्लसित हो उठा।

महाराजा विजयसिंह बड़े भारी ठाटबाट के साथ मदनमालती को साथ लेकर विजयपुर आये और अपने सम्बन्धियों के सत्कार से सन्तुष्ट हुए। मदनमालती अपने प्राणनाथ को पाकर प्रमुदित हो गई। पुत्रवधू सहित भूपसिंह को देखकर महाराज रणवीरसिंह के नेत्र शीतल हो गये।

महाराज विक्रमसिंह की तथा बलवन्तसिंह की इच्छा थी कि उदयसिंह तथा बलवन्तसिंह को उचित दण्ड दिया जावे। परन्तु दयावान जयदेव और वीर्यवान् भूपसिंह के आग्रह से वे दोनों सर्वथा क्षमा करके छोड़ दिये गये।

महाराज निहालसिंह (उदयसिंह के पिता) को अपने पुत्र के उक्त काले कृत्यों को सुनकर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने आज्ञा जारी कर दी कि उदयसिंह और बलवन्त हमारे राज्य भर में कहीं भी आश्रय न पावें।

सूर्यपुर की मालिन को बुलाकर बहुत सा पारितोषिक दिया गया और विजयपुर में ही सदा के लिये उसका जीविका का प्रबन्ध कर दिया गया।

जिस समय रेवती ने योगी का वेष धारण किया था और बलदेव सिंह उसका शिष्य बना था, उसी समय उन दोनों के हृदय में स्नेह ने अपना स्थान बना लिया था। यह बात किसी प्रकार महाराज रणवीरसिंह के कानों तक पहुँच गई। इसलिये उन्होंने प्रसन्नता के साथ उन दोनों को सदा के लिये स्नेहबन्धन में बांध दिया। विवाह के पश्चात् एक दिन रेवती के आने पर सुशीला ने मुसुकुराते हुए पूछा, आइये ठकुराइनजी ! कहिये आपके शिष्य महाशय तो प्रसन्न हैं ? रेवती ने चट से उत्तर दिया जी ! आपकी मालती जी की कृपा चाहिये, फिर अप्रसन्नता का क्या काम है ?

हीरालाल की स्त्री सुभद्रा को एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। गुण-वती सुभद्रा ने बहुत उत्तम रीति से लालन पालन करके उसको बड़ा किया। ४-५ वर्ष का होने पर उसकी शिक्षा पर कंचनपुर नरेश स्वयं देखरेख रखने लगे। पश्चात् समर्थ होने पर रतनचन्द्र की दुकान का वह स्वामी बनाया गया। सुभद्रा ने पुत्र की चिन्ता से निवृत्त होकर एक बुद्धिशालिनी आर्यिका के निकट जिनदीक्षा ले ली।

जयदेव के चले जाने पर कंचनपुर नरेश ने रतनचन्द के दानद्रव्यों से एक पाठशाला खोल दी और अच्छे-अच्छे विद्वान अध्यापकों की उसमें नियुक्ति कर दी। प्रतिज्ञानुसार कई वर्ष के बाद जयदेव ने कंचनपुर नरेश से जाकर भेंट की और श्रीरतनचन्द पाठशाला का अवलोकन करके सन्तोष प्रगट किया। कंचनपुर नरेश ने जयदेव को स्नेहवश बहुत दिन तक अपने यहां रक्खा।

कुछ दिन में भूपसिंह और जयदेव को एक-एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बड़े आनन्द से उनके जीवन के दिन अतिवाहित होने लगे। महाराज रणवीरसिंह और जौहरी श्रीचन्द्र पौत्रों के मुख देखकर स्वर्ग-सुखों का अनुभव करने लगे।

रतनचन्द दीक्षित हो गये। उनका दीक्षा नाम 'श्रीविमिल कीर्ति-मुनि' रक्खा गया। गुरु के पास विद्याभ्यास करके कुछ दिनों में उन्होंने असाधारण विद्वत्ता प्राप्त कर ली। तपस्या करने में भी वे अद्वितीय हो गये। इन्द्रियों की विषयलालसाओं का उन्होंने खूब दमन किया। अन्तरंग तप के शृंगार से भूषित होकर वे संघ के साथ बिहार करने लगे। और अपने अपूर्व उपदेशानुमृत से चिरसंतप्त प्राणियों के चित्तों को शान्तिता प्रदान करने लगे।

जयदेव सरस्वती पाठशाला का निरीक्षण करने के लिये विलास-पुर गये थे। महाराज विक्रमसिंह ने उन्हें बुला भेजा था और उसी समय श्री विमल कीर्ति मुनि का भी अचानक आगमन हुआ था।

उस दिन महाराज उसके दर्शन के लिये गये थे कि मुनिराज के व्याख्यान से उनके हृदय पट पर संसार का भयानक चित्र खिंच गया।

लौट के घर आने पर भी वे उस चित्र को हृदय से दूर नहीं कर सके। आखिर अपने राज्य का सम्पूर्ण भार जयदेव को सौंप करके वे दूसरे ही दिन दीक्षित हो गये। महाराणी मदनवेगा भी अपने पति की अनुगामिनी हो गई।

उधर विजयपुर में यह खबर सुनकर महाराज रणवीरसिंह और श्रीचन्द्र को भी वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसलिए वे भी गृह का सम्पूर्ण भार भूपसिंह और जयदेव को सौंप करके दीक्षित हो गये। विद्यादेवी ने भी एक आर्यिका के निकट आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिये।

इस लोक सम्बन्धी सम्पूर्ण सुखों को भोग करके जो लोग परलोक के लिये भी यही प्रयत्न कर लेते हैं, उनके समान भाग्यशाली और बुद्धिमान कौन है?

❀ इति समाप्त ❀